बड़ी-बड़ी आँखें

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

Upendra

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता ५, खुसरू बाग रोड, इलाहाबाद।

प्रकाशक

नीलाभ प्रकाशन

५, खुसरोवाग रोड, इलाहावाद

मूल्य ३।।)

मुद्रक

सम्मेलन मुद्रणालय

प्रयाग

नाम में क्या रखा है,

तुम मानो कि यह तुम्हींको समर्पित है ।

"....But I am not simply a landscape painter, I am also a citizen. I feel that if I am a writer, I am duty bound to write of the People, of their sufferings and of their future...."

—*Trigorin in Chekhov's 'Sea-Gull'*

प्रकाशकीय

बड़ी बड़ी आँखें—अश्क जी ने मार्च १९५४ में समाप्त किया था, किन्तु पहले इसका संक्षिप्त संस्करण आल इंडिया रेडियो से ब्राडकास्ट हुआ, फिर यह साप्ताहिक हिन्दुस्तान (दिल्ली) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ और इसे तत्काल प्रेस में न दिया जा सका।

फिर जब हिन्दुस्तान में छप चुकने के बाद अश्क जी ने उपन्यास को प्रेस में देने के लिए साप्ताहिक की फ़ाइल उठायी तो उन्होंने पाया कि सम्पादकों ने अपने हिन्दी प्रेम में उपन्यास की सूरत ही बिगाड़ दी है। अश्क जी सीधी-सादी भाषा लिखते हैं, उर्दू अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों से उन्हें घृणा नहीं, फिर जहाँ जो शब्द प्रचलित है, वहाँ वही रखना वे पसन्द करते हैं, पर 'हिन्दुस्तान' के सम्पादकों ने 'डाइनिंग हाल' की जगह 'भोजनकक्ष', 'कम्यूनिटी किचन' की जगह 'साझे की रसोई' और 'रविश' की जगह 'रौंस' इत्यादि बेशुमार तब्दीलियाँ कर दीं, यहाँ तक कि मुहावरे और वाक्य के वाक्य बदल डाले; वचन देने के बावजूद, कई बार लिखने पर भी, असल मसौदा वापस न किया और अश्क जी को सारे का सारा उपन्यास लगभग फिर लिखना पड़ा। इसी कारण इसे छपने में इतनी देर हो गयी।

इसी बीच रेडियो के श्रोताओं और हिन्दुस्तान के पाठकों की ओर से बीसियों पत्र लेखक के पास आये। अपने देश में प्रायः लेखक और पाठक में पत्र-व्यवहार का प्रचलन नहीं। **'बड़ी-बड़ी आँखें'** की प्रशंसा में इतने पत्रों का आना इसकी लोकप्रियता का द्योतक है।

जी तो होता है कि पाठकों के आभार-स्वरूप हम सभी पत्र यहाँ दें, पर वैसा सम्भव नहीं। तो भी एक पत्र को देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। लखनऊ से श्री केशु लिखते हैं :

> "अभी-अभी इस सप्ताह के हिन्दुस्तान में प्रकाशित आपके उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' का अन्तिम परिच्छेद समाप्त किया है और पहली बार आपके विचारों, सपनों और जीवन-दर्शन को समझ पाया हूँ।
>
> मैं आपको लिख रहा हूँ, न तो किसी आलोचना के दृष्टिकोण से, न किसी और कारण से। यह तो दिल की हूक है, जो आलोचना से बहुत परे है।
>
> दिल चाह रहा है लिखूं—बस इसलिए लिख रहा हूँ। सच-मुच इस उपन्यास से मुझ पर उतना ही प्रभाव हुआ है जितना तुर्गनेव के 'नेस्ट आफ़ दि जेंट्री' को पढ़ने से। आपकी भोली-भाली फूल जैसी सुकुमार वाणी तुर्गनेव की लीज़ा जैसी है और खलील जबरान की सलमा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। कालिदास ने नारी की तुलना फूल से की थी और मुझे ऐसा लग रहा है कि आपने भी उसी फूल के विमल सौंदर्य की सोलह वर्षीय साध का चित्रण अपने इस उपन्यास में किया है।"

'सितारों के खेल', 'गिरती-दीवारें' और 'गर्म राख' के बाद अश्कजी का यह चौथा उपन्यास है। पिछले दो उपन्यासों की अपेक्षा कलेवर में यह लघु सही, पर वस्तु की गुरुता में यह उनसे किसी तरह कम नहीं।"

प्रकाशक

बड़ी-बड़ी आँखें



सर्दी उतर आयी थी। तड़के मेरी आँख खुल गयी। कम्बल खिसक गया था और ऊपर से चादर हट जाने के कारण सर्दी लग रही थी। कम्बल ठीक करने के लिए मैं उठकर बैठ गया। बायीं खिड़की के शीशे ओस से भीगकर धुँधले हो रहे थे और उनमें से सामने कुएँ का बरगद एक बड़ा-सा गीला-गीला स्याही का धब्बा-सा लग रहा था और चाँद की सुनहरी थाली निकट के टेढ़े-मेढ़े कुबड़े कीकर की एक काँपती-सी डाल के हाथों में लरजती दिखायी दे रही थी।

फिर लेटने के बदले, मैंने पास ही रखी कुर्सी से लोई उठायी और उसे लपेटता हुआ बाहर बरामदे में आ गया। सामने बड़ा ही

सुन्दर दृश्य था— दूर 'बनौली' के घरों और पेड़ों की ऊँची-नीची लकीर के ऊपर चाँद गहरे संतरे का-सा रंग चारों ओर बिखेरता हुआ डूब रहा था। उसकी सफ़ेदी, अस्त होते समय सिमटकर सुनहली हो गयी थी। क्षणभर मैं निर्निमेष खड़ा, जैसे उस सारे सौन्दर्य को पीता रहा। फिर अनायास एक लम्बी साँस-प्रकृति की निकटता के उस अनिर्वचनीय सुख की, या जाने किसी गहरे, अकथ दुःख की—मेरे हृदय की गहराई से निकल गयी। मैं लौटकर अन्दर आया, लोई को वहीं कुर्सी पर रखकर बालों के ढीले जूड़े को एक बार फिर कस, कम्बल ओढ़, लेट गया।

लेट गया, लेकिन मुझे नींद नहीं आयी। लेटा-लेटा भी जैसे मैं उस दृश्य को देखने लगा—कितना सुन्दर था यह देवनगर—कीचड़ और दलदल में अनायास खिले कमल सरीखा मनहर और स्वच्छ! लेकिन महीना भर पहले जब मैं एक शाम वहाँ पहुँचा था तो वह मुझे इतना दिलकश न लगा था—शहर से 'गोरेशाह' तक बारह मील एक ठसाठस भरी बस में, फिर वहाँ से 'पत्थरचट्टी' तक दस मील लम्बी कच्ची-पक्की सड़क एक हिलते-डोलते बम्बूकाट में तय कर, बाकी डेढ़ मील का ऊबड़-खाबड़ रास्ता एक देहाती के सिर पर सामान उठवाये, पैदल चलकर, मैं देवनगर पहुँचा था। गोरेशाह के अड्डे पर बाक़ी तीन सवारियों की प्रतीक्षा में मुझे एक बजे तक बैठना पड़ा था। देवनगर पहुँचते-पहुँचते पाँच बज गये थे। आसमान पर बादल घिरे थे। देहाती साँझ अपने विशाल सूनेपन के साथ उतर आयी थी। मैं थका, ऊबा और भूखा था। ऐसे में देवनगर की दस एक-जैसी कोठियों की कतार मुझे वीराने में व्यर्थ ही अपना वैभव लुटाकर खिन्न मन हो बैठ जाने वाली देहाती युवती-सी उदास और बेरौनक़ लगी।

शायद वहाँ मेरे आने की प्रतीक्षा थी, क्योंकि पहली कोठी के बरामदे ही में मुझे तीरथराम मिल गया। उसके ज़िम्मे उन दिनों अतिथि-सेवा का काम था। जब मैंने उसे अपने आने का प्रयोजन बताया तो वहीं बरामदे में मेरा बिस्तर उतरवाकर वह मुझे बीच की एक कोठी में ले गया। उस कोठी के बायें कमरे पर नीले रंग का पर्दा पड़ा था, जो उस समय एक ओर को ज़रा-सा हटा हुआ था। पर्दे की उस झिरी में से देवनगर के संस्थापक, 'देववाणी' के सम्पादक, 'देवमण्डल' के संचालक और 'देवसेना' के प्रधान सेनापति श्री देवा जी (सरदार देवेन्द्र सिंह, जो अपने पाठकों, अनुयायियों और स्नेहियों में इसी नाम से प्रसिद्ध थे।) एक डेस्क पर बैठे दिखायी दे रहे थे। उनकी पीठ हमारी ओर थी और दूध-से सफ़ेद कपड़े उन्होंने पहन रखे थे। मैंने कभी उन्हें देखा न था पर अपने पिता जी के चित्रकार-मित्र श्री निरंजनसिंह से उनकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी। अतिथि-सेवक तीरथराम ने बरामदे में बढ़कर किवाड़ पर टिक-टिक की। देवा जी लिखने में निमग्न थे। उन्होंने नहीं सुना। फिर टिक-टिक करने पर उन्होंने सिर उठाया। घूमकर हमारी ओर देखा। पहचानने में कुछ असुविधा होने से डेस्क पर पड़ा हुआ चश्मा उठाकर आँखों पर लगा लिया। तभी तीरथराम अन्दर गया। दूसरे क्षण में उनके पास कौच पर बैठा था और देवा जी मेरी कुशल-क्षेम पूछ रहे थे।

सफ़ेद चूड़ीदार पायजामे और अचकन में ढका, पतला-छरहरा (लेकिन अब कद्रे मोटापे की ओर को मायल) सुगठित शरीर, तीखी ठोड़ी, छोटी-छोटी खुशनुमा मूँछें, गहरी अहसास भरी आँखें और सिर पर बड़ी मेहनत से सजी दस्तार—अमरीका जाने से पहले देवा जी डाढ़ी भी रखते थे और बाल भी, अमरीका से आने के

वाद, (अथवा वहीं) उन्होंने दोनों से मुक्ति पा ली थी, शायद अमरीका में टोप पहनते हों, पर हिन्दुस्तान में आने पर तो वे दस्तार ही सजाते थे—पहली दृष्टि में वे मुझे बड़े अच्छे और बड़े सहृदय लगे।

"रास्ते में कुछ तकलीफ़ तो नहीं हुई?"

यह पूछते हुए उन्होंने फाउण्टेनपेन का ढकना वन्द किया और कुर्सी मेरे निकट सरका ली।

"पहुँच ही गया हूँ," एक मजबूर-सी मुसकान मेरे ओठों पर आ गयी।

"पत्थरचट्टी तक तो सड़क ग़नीमत है," वे वोले, "यह डेढ़ मील का रास्ता जरा परेशान करता है। वरसात ख़त्म हो गयी है। इन सर्दियों में हम ज़रूर सड़क वना देंगे।"

"हाँ सड़क वन जाय तो इक्का-ताँगा सीधा यहाँ तक आ सकता है।"

"यहाँ आने वाले तो शहर से सुबह चलते हैं," वे वोले।

"चला तो मैं भी सुवह ही था," मैंने कहा, "पर गोरेशाह के अड्डे पर देर लग गयी, एक वजे तक इक्के पर बैठा रहा।"

"तो कुछ खाना-वाना खाया है या नहीं आपने?" और फिर मेरा उत्तर सुने बिना उन्होंने अन्दर की ओर शायद अपनी लड़की को आवाज़ दी—"वीणी।"

दूसरे क्षण छोटी-छोटी दो लड़कियाँ दरवाज़े में आ खड़ी हुई। वुलाया एक ही को गया था, पर अपने पिता के आदेश को पालने की उत्सुकता दोनों को एक-दूसरी से वढ़कर थी।

"इनके लिए कुछ नाश्ते-वाश्ते का प्रवन्ध करो, वाणो!"

'वाणो.....वीणी.....याने वीणा!' मैंने सोचा, 'यह तो हिन्दुआना-सा नाम है। बलवन्त या सतवन्त कौर की तरह पुल्लिग के साथ 'कौर' लगा कर स्त्रीलिंग बनाये गये हमारी सिख लड़कियों के नामों-सरीखा बिल्कुल नहीं। 'वाणीकौर' तो हो ही नहीं सकता। वैसा हिन्दुआना नाम शायद उन्होंने अपने उसी मत के अनुसार रखा है, जिसके अधीन बाल कटवा दिये हैं—जो मत इंसान-इंसान के मध्य नामों, जातियों और पोशाकों की खाइयाँ पसन्द नहीं करता।'

तभी उन्होंने पूछा, "आप देववाणी पढ़ते हैं? देवसेना के बारे में कुछ जानते हैं?"

"जी नहीं, बाक़ायदा तो नहीं पढ़ता रहा। इधर निरंजनसिंह जी ने कुछ अंक दिये हैं और मैं आपकी लेखनी से बड़ा प्रभावित हुआ हूँ।"

"यहाँ तो अभी वीरान ऊसर है, आप तो शहर की गहमागहमी के आदी हैं।"

"जी, मन की कभी ऐसी भी दशा होती है जब शहर अपनी सारी गहमागहमी के बावजूद वीराना लगता है," मैंने कहा, "मेरा मन बड़ा अशान्त है। शान्ति की खोज में मैं गांधी आश्रम जा रहा था। कांग्रेस के एक-दो नेताओं से मेरा अच्छा परिचय है, वहाँ शिक्षा की जो नयी योजना चलने वाली है, उसमें मेरे काम करने की बात भी तय हो गयी थी, लेकिन जब यह बात मैंने निरंजनसिंह जी को बतायी तो उन्होंने कहा कि शान्ति की तलाश में इतनी दूर जाने की क्या जरूरत है, पास ही देवनगर बस रहा है, वहाँ जाओ, वहाँ तुम्हें न केवल मन की शान्ति, बल्कि सच्ची खुशी भी मिलेगी। वे मेरे

पिता जी के मित्र हैं। लेकिन उनका व्यवहार मेरे साथ भी सदा मित्रों-सरीखा रहा है। उन्होंने मुझे आपके और मण्डल के बारे में बहुत-कुछ बताया, देववाणी के अंक भी पढ़ने को दिये और मेरे मन में आपके आदर्शों पर चलने की प्रबल साध भर दी। अशान्ति तो मेरी दूर नहीं हुई, पर उसके दूर होने की आशा बँध गयी है। शहर की गहमागहमी मुझे न खींचेगी, आप विश्वास रखें।"

पत्नी की मृत्यु के बाद सहसा मेरा मन जो शहर से भाग चलने को बेताब हो उठा तो उसका कारण यही न था कि मुझे अपनी बीवी से बेहद मुहब्बत थी और बड़ी लम्बी तकलीफ़देह बीमारी से उसका देहान्त हुआ था, बल्कि बड़ी छोटी, लगभग नज़र-अन्दाज़ कर दी जाने वाली, एक घटना थी, जिसे मैं भुला न सका था।

उसके मरने के तीन दिन पहले, जब मैं उसकी चारपाई की पट्टी पर बैठा उसके बालों पर स्नेह-सिक्त करुणा से हाथ फेर रहा था और देख रहा था कि उस लम्बी तकलीफ़देह बीमारी ने कैसे अपने अदृश्य दाँतों से, बिना किसी प्रकार के घाव किये उसे अन्दर-ही-अन्दर खा डाला है और सोच रहा था कि यदि मैं सम्पन्न होता तो क्या उसे स्विट्ज़रलैण्ड न ले जाता......कि अचानक उसने अपनी बेआवाज़ हँसी के साथ बड़े ही धीमे स्वर में पूछा—"दार जी,* नरक और स्वर्ग में क्या आपका ज़रा भी विश्वास नहीं?"

---

* सरदार जी

स्विट्ज़रलैण्ड की मनमोहिनी घाटियों और विज्ञान के आधुनिक साज-सामान से लैस उसकी स्वास्थ्यशालाओं पर मँडराता हुआ मेरा मन जैसे एक ही झटके से वापस वहीं आ गया।

मुझसे तत्काल कुछ जवाब न बन पड़ा। चुपचाप उन हँसते हुए दाँतों, नीले-नीले से रक्तहीन ओठों, जवड़े की उभरी हुई हड्डियों, गहरे धँसे कल्लों, ऊँचे मस्तक और उन पर बिखरे हुए उलझे बालों को मैं देखता रहा।

मेरी वीवी ने मौत की छाया देख ली थी। मेरे निकट होकर भी, वह मुझसे कोसों दूर, ज़िन्दगी और मौत के पार, स्वर्ग-नरक की न जाने किन अनजानी घाटियों में भटक रही थी। मैंने देखा उसकी आँखों में भय न था, जिज्ञासा थी, मेरे आश्वासन भरे शब्द सुनने की उत्सुक गहराई थी। लगा कि जैसे किसी अदृश्य डोरी को पकड़े वह गहरी खोह के दहाने पर लटक रही है। डर के पड़ाव को वह पार कर गयी है। अपनी होनी से उसने समझौता कर लिया है, पर वह जानना चाहती है कि गहरे अँधेरे गर्त्त के तल में उसे उबलता लावा मिलेगा या नर्म-नर्म मिट्टी की सोंधी-सोंधी शान्तिभरी गोद? और जैसे मैं उसे जो बताऊँगा वह ठीक ही होगा, वह डोरी को छोड़कर मेरे उस आश्वासन के सहारे मज़े से उस खोह में डूबती चली जायगी।

लेकिन मैं वैसा कुछ आश्वासन न दे सका। मैं उस प्रश्न के लिए तैयार न था। स्वर्ग-नरक में मेरा विश्वास नहीं। स्वर्ग तो, नरक तो, मैं इसी दुनिया की चीज़ मानता हूँ। लेकिन इस दुनिया में जिसने लम्बी, कष्टदायक बीमारी की यन्त्रणा का नरक देखा हो, वह दूसरी दुनिया में कुछ सहारा चाहता है। स्वर्ग एक सपना नहीं, बिल्कुल

हकीक़त बनकर उसके सामने आता है। इसी कारण मैं चुप रहा था, पर जब उसकी प्रश्नभरी आँखें मेरे चेहरे से न हटीं तो मैंने कहा था—"पित्तो, स्वर्ग-नरक के बारे में तुम मेरे विचार जानती हो, लेकिन तुमने अपना कर्त्तव्य पूरी तरह निभाया है, यदि कोई स्वर्ग है तो वह अवश्य तुम्हें मिलेगा।"

तीसरे दिन वह मर गयी थी। उसे चिता के हवाले करके जब मैं घर आया और सगे-सम्बन्धियों, मित्र-शत्रुओं के शोक के दिखावे से छुट्टी पाकर बिस्तर पर लेटा तो दूसरी बीसियों स्मृतियों को पीछे धकेलकर, वही तीन दिन पहले की उसकी सूरत मेरी आँखों में घूम गयी और वही प्रश्न कानों में गूंज उठा—"दार जी, क्या स्वर्ग-नरक में आपका ज़रा भी विश्वास नहीं ?"

तब सूझा कि मुझसे बड़ी भूल हुई। यह ठीक है कि वह दो साल से बीमार थी, यह भी ठीक है कि मेरे और उसके घर वाले, वह और मैं— सब जानते थे कि उसका रोग असाध्य है और उसकी दवा अब मौत के सिवा किसी और के पास नहीं। तो भी मुझे उसके सवाल का कुछ और जवाब देना चाहिए था। मुझे कहना चाहिए था—"तुम ऐसी बातें क्यों सोचती हो पित्तो ? तुम ठीक हो जाओगी और हम यहीं स्वर्ग सी सुन्दर दुनिया बसायेंगे......"

और आत्मग्लानि और धिक्कार से मेरा मन भर आया था। वास्तव में उसकी बीमारी उस हद को पहुँच गयी थी, जहाँ हीले-बहाने बेकार हो जाते हैं और मेरे मुंह से सच्ची बात निकल गयी थी, उस समय लगा था, जैसे मेरी उस बात से उसे सान्त्वना भी मिली है। लेकिन उसके देहावसान के बाद, वही बात मेरे दिमाग़ को परेशान करने लगी। 'वह सच कितना क्रूर था,' मैंने सोचा, 'जब तक साँस है,

तव तक आस है। क्या यह वेहतर न होता कि उस क्रूर सत्य के वदले में प्यारा-सा, मीठा-सा झूठ बोल देता और उसका मन इसी दुनिया में लगाये रहता ? मेरे उस उत्तर से उसने प्रतिक्षण अपनी मौत को देखा होगा। तिल-तिल-कर वह मरी होगी....'

सोच-सोचकर मेरा दिमाग़ घूम गया। मेरी नौकरी बीवी की बीमारी ही में छूट गयी थी। घर से जाने की कोई जल्दी न थी, लेकिन उन स्मृतियों से परेशान होकर कस्वा छोड़, मैं शहर आ गया। ख़याल था, उसकी गहमागहमी में मैं अपने ग़म को भुला दूंगा, पर शहर के सारे शोर-शराबे और चहल-पहल में मेरे दिल का वह सूनापन और दिमाग़ की परेशानी कई गुना वढ़ गयी। कई वार ऐसा भी होता है कि एक आवाज़ को दवाने के लिए दूसरी आवाज़ और भी वुलन्द हो उठती है। शहर के उस शोर में मेरे मन के धिक्कार की वह आवाज़ उच्च से उच्च-तर हो गयी। उस आवाज़ को दवाने और अपने मन को पत्नी की बीमारी, मौत और बीते दिनों की यादों से हटाने के लिए मैंने गांधी-आश्रम जाने की ठान ली। मेरा परिचय जिन नेता से था, उन्होंने वहाँ के शान्त वातावरण, वहाँ की बाँस और फूस से छायी छतों और मिट्टी से लिपी-पुती साफ़-सुथरी, मन्दिरों सी पवित्र झोपड़ियों, वहाँ की सादा जिन्दगी और ऊँचे विचारों—वहाँ के सारे वातावरण की वड़ी प्रशंसा की। 'जीवन की उपादेयता वहीं रहकर महसूस होती है,' उन्होंने कहा और वहाँ पत्र व्यवहार करके मेरे लिए तय कर दिया। लेकिन जब मैंने निरंजनसिंह जी को अपने फ़ैसले की वात सुनायी तो वे कुछ क्षण चित्र वनाते-वनाते रुक कर, ब्रश की पिछली नोक दाँतों में लिये हुए, चुपचाप बैठे रहे। हालाँकि वे मेरे पिता के मित्र थे, लेकिन यह अजीव वात थी कि

पिता के अन्य मित्रों से मुझे जो झिझक थी, वह उनसे न थी। भाई, चचा या ताऊ के सामने जो संकोच होता है, वह उनके सामने एकदम ग़ायब हो जाता था। कुछ अजीब तरह की मैत्री उनके व्यवहार में थी और मन की सब बातें मैं उनसे निःसंकोच कह देता था। वे भी एक हमदर्द, लेकिन अनुभवी मित्र की तरह, मुझे परामर्श देते थे।

क्षण भर तक ब्रश की पिछली नोक दाँतों में लिये हुए वे सोचते रहे, फिर अचानक उन्होंने कहा—"तुम देवनगर क्यों नहीं चले जाते?"

"देवनगर?" मैंने कुछ हैरान होकर आँखें उठायीं।

"तुमने देवनगर का नाम नहीं सुना?" वे चकित-से बोले, "प्रांत के पढ़े-लिखे वर्ग पर तो देवनगर के संचालक का बड़ा प्रभाव है। ये लो इस पत्रिका के कुछ अंक पढ़ो।" और उन्होंने आलमारी से 'देववाणी' के कुछ अंक उठाकर मेरे सामने फेंक दिये और बोले—"देवनगर का वातावरण तुम्हें पसन्द आयगा। गांधी-आश्रम बहुत दूर है और वहाँ जिस कड़ाई की मैं बात सुनता हूँ, वह हर किसी के बस की नहीं। फिर वहाँ गांधी जी के महान व्यक्तित्व के सामने तुम्हें अपना आप एक तृण सरीखा लगेगा। तुम देवनगर जाओ! देवनगर में तुम अपना विकास कर सकोगे। यहाँ से निकट भी है, केवल बाईस मील। रास्ते में तकलीफ़ ज़रूर होगी, पर एक बार जब पहुँच जाओगे तो आने को मन न होगा।"

"मैं वहाँ करूँगा क्या?" मैंने पूछा।

"काम की वहाँ कमी नहीं," वे बोले, "मैं पिछले दिनों वहाँ गया था। देवा जी से मिला था। वे मुझे वहाँ चाहते हैं। जगह ऐसी

सुन्दर है कि मेरा मन भी है, पर अभी कुछ वर्ष तक मैं यहाँ से नहीं जा सकता।" पल भर को निरंजनसिंह जी रुके, फिर बोले, "बातों-बातों में मुझे पता चला कि वे 'देववाणी सिरीज़' की कुछ पुस्तकें हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित करना चाहते हैं। तुम इलाहाबाद के पढ़े हो। दोनों ज़बानें जानते हो। यह काम तुम बख़ूबी कर सकते हो। फिर वहाँ दसियों और काम हैं। 'देववाणी' के हिन्दी-उर्दू संस्करण निकालने की उनकी स्कीम है। नये ढंग का एक प्रैक्टिकल स्कूल वे खोलना चाहते हैं, फार्म भी चलाना चाहते हैं। सपने उनके बड़े हैं, उन्हें अमली जामा पहनाने को सैनिक तो दरकार होंगे ही।"

"मुझे तो वे जानते भी नहीं और मैं भी वहाँ के बारे में कुछ नहीं जानता," मैंने कुछ संकोच से कहा।

"देववाणी के ये अंक पढ़ लो, बहुत कुछ जान लोगे, रही देवा-जी की बात। सो मैं उन्हें चिट्ठी लिख दूंगा, तुम्हें भी चिट्ठी दे दूंगा।"

उस शाम मैं दुविधा में पड़ा चला आया था, पर ज्यों-ज्यों मैं 'देववाणी' के अंक पढ़ता गया, मेरी दुविधा मिटती गयी। देवा जी का दर्शन, उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार और उनका रहन-सहन का ढंग मुझे आकर्षित करने लगा। वे अन्धविश्वास के, सनक के, टोने-टोटके, भाग्य-भगवान, भीख या दान के विरुद्ध थे। प्रकृति की महान सत्ता को मानते हुए भी वे किसी व्यक्तिगत भगवान के क़ायल न थे। किस्मत को मानना उन्हें मानव के अहम् का अपमान लगता था। दिखावा उन्हें ज़रा पसन्द न था। मैं कई नेताओं को जानता था, जो सत्य-अहिंसा को अमली जामा पहनाने में चाहे महात्मा गांधी से पीछे हों, पर जहाँ तक दिखावे का सम्बन्ध है, कहीं आगे बढ़े हुए थे.....एक केवल सिंघाड़े और दही खाते थे। दूसरे

केवल फल और दूध। तीसरे साग-सब्ज़ी पर रहते थे। एक चौथे थे जो सुबह उठते ही राम-नाम लेने के बाद किसी तरह का प्रकट पाप न करने पर भी आत्म-सुधार के हेतु सात जूते अपने मुंह पर मारते थे और सदा शीर्षासन करते थे, चाहे मुसाफ़िरों से भरी गाड़ी में भी क्यों न यात्रा कर रहे हों। एक पांचवें थे जो दिन के अधिकांश में तकली कातते थे और जब तकली कातते थे तो किसी से बोलते न थे.... इन सब के मुकाबले में 'देववाणी' का फ़लसफ़ा मुझे अधिक अमली और बेहतर लगता था।....सातवें दिन मैंने निरंजनसिंह जी से कहा कि मुझे चिट्ठी लिख दीजिए।

उन्होंने चिट्ठी लिख दी और मुझे लिफ़ाफ़ा देते हुए कहा—"मैंने देवा जी को उसी दिन लिखा था। उन्होंने उत्तर दिया है कि मैं तुम्हें भेज दूं। आज मैं तुम्हारे जाने के बारे में लिख देता हूँ। तुम बेझिझक वहां जाओ और अपनी सेवाओं को देवसेना के अर्पण कर दो, गांधी-आश्रम की रुखाई और कड़ाई तुम्हें देवनगर में न मिलेगी, पर उद्देश्य की उच्चता, वातावरण की स्वच्छता, कलाकारिता और समाज-सेवा की लगन तुम वहां भरपूर पाओगे। 'देवसेना' की बढ़ती हुई सरगर्मियों में हिस्सा लोगे तो तुम्हारे मन की अशान्ति बहती पछुआ के आगे उड़ने वाली पपोली-सी हवा हो जायगी।"

चाय पीते-पीते मैंने देवा जी को यह सब बताया तो वे मुस्कराये। निरंजनसिंह जी की कला, उनके स्नेह और सौहार्द्र की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की और कहा—"देवनगर आपका स्वागत करता है, आप जब तक मन हो रहिए, इसके कामों में हाथ बटाइए, हमारे सुख-दुख में हिस्सा लीजिए; लेकिन भाई, जहां तक आपके मन की शान्ति का

सम्बन्ध है, उसका स्रोत न गांधी-आश्रम में है न देवनगर में। वह तो आपके अन्तर ही में है। वहीं आपको उसे खोजना होगा। गाँव से शहर और शहर से भागकर गाँव में रहने, साम्राज्य छोड़कर सन्यास लेने अथवा सन्यास तजकर साम्राज्य पाने में शान्ति नहीं, जीवन के ये परिवर्तन अशान्ति के कारणों को हटाते नहीं, उन्हें आगे-पीछे कर देते हैं। अशान्ति का कारण है अनुभवहीनता, अनिश्चय और अहम् का आधिक्य ! सम्राट् यदि गद्दी छोड़कर कुटिया को अपना लेता है तो इन बुराइयों को वह साथ ही ले जाता है। इसलिए विचारवान सभी दशाओं में शान्त और प्रसन्न रहता है।"

देवा जी की बात मेरे अशान्त मन पर ठंडे लेप सरीखी लगी। मैंने कहा—"मैं आपकी बात मानता हूँ। आपके मुकावले में तो मैं अभी वच्चा हूँ, मेरा अनुभव ही क्या है, कुछ वर्ष अपने पास रहने दीजिए, अनुभव प्राप्त करने दीजिए, मन अपने-आप शान्त हो जायगा।"

"निरंजनसिंह जी ने आपको सेना में लेने की सिफ़ारिश की है," वे वोले, "आप कुछ दिन रहिए, देवमण्डल के बारे में जानिए, आपका मन होगा तो आपको सेना में भी ले लेंगे। अभी जो आप चाहेंगे, आपको मिल जायगा।" फिर कुछ रुककर वोले, "अभी कितने से आपका काम चल जायगा ?"

पत्नी के देहान्त के वाद, यह समस्या मेरे लिए कुछ वैसे महत्व की न रह गयी थी, मैंने कहा, "आप जो भी दे सकें, मुझे स्वीकार होगा।"

"रहने-खाने का प्रवन्ध हम कर देंगे, और पचास रुपये आपको जेव-खर्च के लिए मिल जायँगे। चल जायगा इतने से ?"

"जी, मज़े से।"

"तो ठीक है, अब आप जाकर आराम कीजिए, थके हुए हैं।"

और उन्होंने तीरथराम को बुलाकर मुझे उसके हवाले कर दिया।

देवनगर में एक सरीखी दस कोठियों के अतिरिक्त एक ड्योढ़ी, एक कम्यूनिटी किचन, एक डाइनिंग हाल और एक अठकोना गुम्बद भी था। ड्योढ़ी नौ कोठियों के बाद थी। कोठियों के नम्बर उलटे थे। पत्थरचट्टी से देवनगर पहुँचें तो पहले दस नम्बर की कोठी पड़ती थी। गुम्बद दस नम्बर की कोठी के पीछे था। मुझे तीरथराम से मालूम हुआ कि छुट्टी का दिन न हो तो देवा जी वहीं बैठते हैं। छुट्टी के दिन प्रायः वे घर पर ही काम करते हैं।

ड्योढ़ी से परे केवल एक कोठी थी—नम्बर एक, जिसके बाद खेत थे और रास्ता एक ओर नहर को और दूसरी ओर बनौली को निकल जाता था।

ड्योढ़ी के पीछे से एक रास्ता, जिसके दोनों ओर मेंहदी की कटी-छटी बाड़ थी, कम्यूनिटी किचन को जाता था। किचन के साथ फूस की छत का एक बड़ा मँडुवे जैसा हाल था, जो साँझ के उस धुंधलके में उस स्थान को और भी सुनसान बना देता था।

खाना खाने के लिए तीरथराम मुझे उसी बड़े मँडुवे में ले गया। वह आम भाषा में तो लंगर कहलाता था, पर था बिल्कुल नये ढंग का डाइनिंग हाल। उस समय उसमें केवल एक गैस जल रहा था। रात की उस तारीकी में बिजली की अभ्यस्त मेरी आँखों को वह हाल अँधेरा, सूना और उदास लगा। सामने एक पक्की

पेंटरी बनी थी, जिसपर खाली थालियाँ, कटोरियाँ चमचे आदि रखे थे। बराबर के किचन से खाना पक कर वहाँ आ जाता। खाने वाले लोग पेंटरी से थालीं कटोरी ले लेते। पेंटरी के पीछे खड़ी स्त्रियाँ खाना परस देतीं और लोग अपनी-अपनी मेजों पर आ बैठते। दूसरी बार स्त्रियाँ स्वयं रोटियों की थाली या सब्ज़ी-तरकारी के डोंगे लिये मेज़-मेज़ हो आतीं।

खाना खाते समय तीरथराम ने बताया कि देवा जी ने स्त्रियों को रसोई की ग़ुलामी से नजात दिला दी है। देवनगर में एक-दो घरों को छोड़कर सब इस साझे की रसोई में खाना खाते हैं। पकाने वाले रसोइए हैं और परसने वाली स्त्रियाँ। बारी-बारी से देवनगर की देवियाँ यह कर्त्तव्य निभाती हैं और अपना शेष समय उपादेय कामों में लगाती हैं।

खाना खाने के बाद थालियाँ उठाकर हम किचन के नल पर रख आये और तीरथराम मुझे ड्योढ़ी की छत पर सोने के लिए ले गया। वह लम्बा-तगड़ा हृष्ट-पुष्ट जवान था, लेकिन उस लहीम-शहीम देह में दिल एक कवि का है, इसका पता उसकी बातों से मुझे तत्काल चल गया। लंगर से आने और सोने की तैयारी करते हुए उसने मुझे बताया कि देवनगर जिस ज़मीन पर है, वह कभी मुग़लों के ज़माने में एक बड़ी जागीर थी। इस ड्योढ़ी के साथ एक ऊँचे परकोटे के खण्डहर थे और लोगों का कहना था कि वहाँ प्रेत रहते थे और लोग दिन को भी उसके पास जाते डरते थे। जागीर का स्वामी दिल्ली का एक पण्डित था, जिसने अपनी सारी जायदाद शराब और वारांगनाओं की भेंट कर दी थी। उसी ने कुछ दोस्तों के उकसाने पर वहाँ ट्यूब-वैल लगाया था कि फ़ार्म चलायेगा, पर उसे न कृषि का अनुभव था, न कारोबार का, मेहनत की उसे आदत न थी और शराब

में वह धुत्त पड़ा रहता था। इसलिए फार्म न चल सका, उजड़ गया और वहाँ प्रेतों के अस्तित्व पर लोगों का विश्वास और भी पक्का हो गया। देवा जी ने उससे यह ज़मीन सस्ते में ले ली तो परकोटे की ईंटों से बाहर से पक्की और अन्दर से कच्ची दीवारें खड़ी कर के बड़े सस्ते में ये दस कोठियाँ और लंगर बनवा लिया। ड्योढ़ी और गुम्बद का जीर्णोद्धार कर उन्होंने नहर की मिट्टी मँगवा, कोठियों के आगे घास के लॉन, मेंहदी की बाड़ें और बाग़ लगवा दिये। नयी खाद डाल कर उन्होंने ऊसर धरती को उर्वर बना लिया और प्रेतों को ऐसा भगाया कि फिर उन्होंने इधर का मुंह नहीं किया।

लेकिन पुनरुद्धार हो जाने के बाद भी ड्योढ़ी की बे-मुंडेर की छत आसमान की ओर फैली हुई खुली, सपाट हथेली की तरह लगती थी। शहरी मकानों की छतों पर चारों ओर जो एक पर्दा-सा होता है, वैसा कुछ वहाँ नहीं था। देवा जी ने ड्योढ़ी में कुछ बढ़ाया न था, सीमेंट की परत और सफ़ेदी के दूध से उसका रंग बदल दिया था। उस शाम के मलगजे अँधेरे में कम-से-कम मुझे ऐसा ही लगा।

तीरथराम कवि था, उस समय बड़े अच्छे मूड में था और यदि मैं बेहद थक न गया होता और कम्बल न तान लेता तो वह शायद मुझे दो-एक कविताएँ भी सुनाता, लेकिन बस और इक्के की यात्रा ने मेरे शरीर की पोर-पोर को झकझोर दिया था, इसलिए मैं देवनगर की स्थापना के सम्बन्ध में तीरथराम की काव्यमयी प्रशस्ति के बावजूद लेटते ही सो गया।

लेकिन मुझे गहरी नींद सोना नसीब नहीं हुआ। रात बड़े जोर की आँधी आयी और लगा कि हम कम्बल समेत उड़ जायेंगे। तीरथराम शायद मरु की उन आँधियों का अभ्यस्त था, इसलिए

पहला झोंका आते ही चारपाई उठाकर, वह सीढ़ियों में चला गया। कुछ देर बाद जब मैं चारपाई समेट कर चला तो आँधी के प्रबल झोंके से लगभग उखड़ कर छत के किनारे जा पहुँचा। चारपाई छत से नीचे जा रही और मैं......जाने मेरे ओठों से भय-सूचक कैसी चीख निकली कि तीरथराम ने भागकर मुझे थाम लिया। मेरी आस्तीन पकड़ कर वह मुझे घसीट न लेता तो चारपाई के साथ मैं भी नीचे जा पहुँचता।

देवनगर की पहली रात का वह क्षण मेरे स्मृति-पट पर कुछ ऐसा अंकित हुआ कि बाद में वर्षों तक, जब भी मैं बिस्तर पर लेटता, एक-न-एक बार वह ज़रूर मेरी आँखों में घूम जाता—आँधी के ज़ोर से 'शां-शां' करते हुए, शेषनाग के भयानक फनों जैसे बनौली के गहरे काले पेड़; धूल-गर्द के पीछे छिपे चाँद की पीली रोशनी में चादर-दर-चादर आते हुए बावली आँधी के हरहराते झपाके और चारों ओर छाये हुए अन्धकार के आलिंगन में जैसे भिचती हुई-सी वह ड्योढ़ी की छत......इंसान कितना बुद्धिमान, बलवान, लेकिन कितना बेबस और मजबूर!.....जब-जब मुझे अपनी उस बेबस चीख का ध्यान आता है, मेरी आँखों के सामने वैसा ही एक और क्षण घूम जाता है—

......सोलन की एक पहाड़ी पगडण्डी पर मैं एक महान नेता के साथ जा रहा था—वे धीर-गम्भीर, ज्ञानी और दार्शनिक थे—रमण महर्षि के आश्रम से हो आने के बाद, मृत्यु पर विजय पाने के लिए योगसाधना किया करते थे और उनके श्रद्धालु प्रचार करते थे कि उन्होंने सचमुच मृत्यु के भय को जीत लिया है— बातों में निमग्न मेरे साथ चलते-चलते, वे एकदम भयार्त स्वर में चिल्लाकर उछले।

में एक कदम पीछे हट गया। दूसरे क्षण सरसराता हुआ एक साँप मेरे सामने से गुज़र गया। शायद उनका पैर साँप पर आ गया था। उनकी वह चीख मेरी ही चीख की तरह बयान से वाहर थी। किसी तरह के शब्द या उपमा में उसे वाँध लेना एकदम असम्भव है—अन्तस्तल के कहीं बहुत नीचे से निकली हुई भयातुर आवाज़ !

लेकिन दूसरे दिन सुवह के उजियाले में देवनगर को देखा तो वही एक-जैसी कोठियों की कतार, जो नींद के मरु में सपनों के शाद्वल-सी सुन्दर लगती थी; वही भव्य ड्योढ़ी, जिसके फ़र्श-पर नगीनों से चमकते हुए रंग-विरंगे पत्थर ऐसे जड़े थे कि आँखें चौंधिया जाती थीं; ड्योढ़ी से कम्यूनिटी किचन को जाती हुई वही चौड़ी रविश, जिसके दोनों ओर वड़ी ख़ूवसरत वाड़ थी; किचन के साथ का वही डाइनिंग हाल, जिसका फ़र्श, पेंटरी और मेज़ें सव उसी नगीनों-जड़े सीमेंट की बनी थीं और साफ़ इतनी थीं कि निगाहें फिसल जाती थीं—वह सारे-का-सारा देवनगर मुझे वड़ा ही आकर्षक लगा।

ड्योढ़ी वास्तव में पुरानी जागीर का सिंहद्वार थी। ऐसा लगता था कि उसके इर्द-गिर्द ऊँची फ़सील थी, जिसके चारों कोनों पर चार वुर्ज वने थे। तीन वुर्ज टूट गये थे, चौथे को ड्योढ़ी के साथ-साथ देवा जी ने नया रूप दे दिया था। उसमें दो खिड़कियाँ और दो रोशनदान वनवा दिये थे। पर्दे, ग़ालीचे और फ़र्नीचर की सहायता से उसे वड़ा ही सुन्दर वना दिया था।

ड्योढ़ी में देव-सैनिकों के सम्मिलन-स्थल और देवमंडल के दफ़्तरों की व्यवस्था थी। दफ़्तर ऊपर की मंज़िल—मंज़िल क्या,

म्याने में था। वहाँ कभी पहरेदार दीवार के छेदों में संगीनें ताने चौकस खड़े रहते होंगे। पर अब देवा जी ने चारों ओर खिड़कियों की व्यवस्था करके उसे सेक्रेटेरियेट का दर्जा दे दिया था। निचली मंज़िल में एक बड़ा-सा हाल बन गया था। दफ़्तर की खिड़कियों से नीचे होने वाली प्रत्येक सभा का नज़ारा किया जा सकता था। वहाँ देव-सैनिक सप्ताह में हर रविवार की सुबह को इकट्ठे होते थे और देवा-जी प्रवचन देते थे।

ड्योढ़ी के परे जो अकेली कोठी थी—नम्बर एक, उसी में मुझे एक कमरा मिल गया। खुला और हवादार। कोठी के आगे, सभी कोठियों की तरह, अर्ध-गोलाकार लॉन था, जिसमें बड़ी अच्छी घास और फूल लगे थे। सामने मेंहदी की क़द-आदम बाड़ सड़क से आने वाली गर्द को रोकती थी। खिड़की के बाहर कीकर का एक कुबड़ा-सा पेड़ था, परे सरवनसिंह के खेत, रहँट, बरगद और बनौली का गाँव था। उस पहली रात के कटु अनुभव के बावजूद, सूरज की धूप में चमकता हुआ देवनगर मुझे भा गया। मैं शहर वापस जाकर अपना सामान ले आया। देवा जी ने एक किताब मुझे अनुवाद को दे दी और मैं जम गया।

"संगीत जी . . . संगीत जी," मेरे सोये हुए कानों में आवाज़ आयी। लगा जैसे कोई मेरा दरवाज़ा तोड़ रहा है।

मैं हड़बड़ा कर उठा। न कीकर की डाल वैसी सुन्दर थी, न उसमें चाँद लटक रहा था। न बाहर स्वप्निल वातावरण था, न अन्दर प्यारा-प्यारा धुंधलका। उगते सूरज की किरणें सारे कमरे में हुड़दंग

मचा रही थीं और कम्बलों के कारण शरीर पर हलका-सा पसीना आ गया था और बाहर तीरथराम बराबर 'संगीत जी', 'संगीत जी' की रट लगाये हुए था।

"चले आओ, तीरथराम!" मैंने बालों को एक बार खोल, उलझी, बिखरी लटों को समेट, जूड़ा बनाते और सिरहाने तिपाई पर रखी हुई पगड़ी को सिर पर रखते हुए कहा, "दरवाज़ा खुला है।"

तीरथराम अन्दर आ गया। मैंने ज़रा खिसककर उसके बैठने को जगह बना दी।

"उठो, भाई! कब तक यों मुर्दा बने लेटे रहोगे? मैं तो नहर तक हो आया।" यह कहते हुए वह किंचित संकोच के साथ चारपाई पर बैठ गया। बेतकल्लुफ़ी से बैठता तो शायद पट्टी दो हो जाती।

"मेरी आँख तड़के खुल गयी थी, फिर बहुत देर तक नींद नहीं आयी, इसलिए......"

लेकिन अपना वाक्य पूरा करने से पहले मैं उचककर उठा और चन्द मिनट में आने की बात कहकर स्नानगृह के दरवाज़े में ग़ायब हो गया।

देवनगर की कोठियों के स्नानगृह इतने खुले थे जितने शहरों के छोटे-छोटे गोल कमरे होते हैं। यद्यपि शहर में जहाँ मैं रहता था, फ़्लश नहीं था, लेकिन देवनगर के विधाता ने देवनगर की कोठियों में लगभग फ़्लश ऐसा प्रबन्ध कर रखा था।

दस मिनट में नित्य-कर्म से निवृत्त होकर मैं स्नानगृह में वापस आया। ब्रश करते हुए मैंने सुना—तीरथराम धीरे-धीरे अपनी कविता गुनगुना रहा है:

मेरे जीवन के सूने नभ में,
नयी तारिका जागी,
औ' सभी उदासी भागी।

हाथ-मुंह धोकर मैं बाहर आया। मैंने कपड़े बदले और कमरा बन्द कर हम बाहर निकले। मीठी-मीठी धूप देवनगर की कोठियों, ड्योढ़ी, डाइनिंग हाल और आस-पास बिखरे हुए खेतों और मैदानों को नया सौन्दर्य प्रदान कर रही थी। रसोइया हरगोविन्द गर्म दूध की बाल्टी भरकर कोठियों की ओर चल दिया था। हम दोनों अपने-अपने कमरों में नहीं, बल्कि कम्यूनिटी किचन में जाकर गर्म-गर्म दूध की चुस्कियां लेते थे और बातें करते थे।

तीरथराम कवि था। देवा जी का भक्त और उन्हींकी तरह अशरीरी, वायवी प्रीति में उसका विश्वास था। देवा जी प्रेम के बड़े भारी समर्थक थे—उस प्रेम को प्रीति कहा जाय तो ठीक होगा—मीठी-मीठी, हलकी-हलकी आंच-सी गर्मी पहुँचाने वाली; एक दूसरे की भावनाओं का ध्यान रखने वाली; एक-दूसरे को बढ़ावा देने वाली प्रीति! लपलपाकर प्रिया को या अपने आपको जला लेने वाले प्रेम में देवनगर के संचालक का विश्वास न था। 'यह देवताओं का नहीं, राक्षसों का प्रेम है,' वे कहा करते, 'फूहड़, असंस्कृत, उजड्ड!' प्रीति का काम उनके खयाल में जलाना नहीं गर्मी पहुँचाना था—देवनगर के सैनिक उसी प्रीत-लड़ी के मनके बन जायँ, यह उनका उद्देश्य था और देवनगर के वासी इसी उद्देश्य की माला जपते थे।

तीरथराम की कविताओं में उसी प्रीति का उल्लेख था। उसके प्रेम का पक्षी फड़फड़ाता हुआ अपने प्रिय के चारों ओर घूमता, बादल की तरह उमड़-घुमड़ कर उसे छा लेना चाहता, पर उसके

शरीर से छू न जाय, इस डर से परे ही रहता। कम-से-कम अपनी कविताओं में वह प्रिय के शरीर को नहीं उसकी आत्मा को चाहता।

किचन के बरामदे की किसी कुर्सी अथवा डाइनिंग हाल की किसी खुली खिड़की की सिल पर बैठ अथवा योंही खड़े-खड़े मैं तीरथराम की कविताएँ सुनता। कविता सुनाते-सुनाते उस प्रीति के झीने आवरण को भेदकर कभी-कभी दूर क्षितिज के अँधेरों में कौंध उठने वाली बिजली-सरीखी वासना उसकी आँखों में चमक जाती और कविता सुनाकर वह सदा बड़ी लम्बी गहरी साँस छोड़ता।

देवनगर के अपने इन सात-आठ दिनों में मैं तीरथराम के सिवा किसी से न खुल सका था। देवनगर एक ऊँचे आदर्श को लेकर अस्तित्व पा रहा था और वहाँ के वासियों को बिना जाने उनसे घुल-मिल जाना मेरे लिए असम्भव था। कुछ अजीब तरह का आतंक-सा मेरे मन पर छाया रहता। देव सैनिकों के मीठे बोल, उनका तकल्लुफ़, स्नेह और सौहार्द्र मुझे अचानक संशक और सतर्क कर देता था, लेकिन तीरथराम से मैं खुल गया था और गयी रात तक उसके साथ घूमता रहता था।

चाँदनी रातें थीं। बड़ा-बड़ा सुनहरी चाँद नहर की ओर के आम की घनी शाखाओं के पीछे से अपना जादू बखेरता हुआ निकलता। माइयों पड़ी* किसी गोरी दुलहिन की तरह पीला होता हुआ, वह ज्यों-ज्यों ऊपर उठता, उसका पीलापन घुलकर दूधिया हो जाता, यहाँ तक कि दस बजते-बजते उसकी चाँदनी अँधेरे कोनों-अँतरों को रोशन कर देती—देवनगर की वह ड्योढ़ी

---

* मांझे पर बैठी, लगन चढ़ी !

उस धवल-पांडुर चाँदनी में ऐसी जगमगा उठती कि हम दोनों उसे देखते न अघाते—उस विशाल सूनेपन में वह भव्य ड्योढ़ी, वे चन्द नयी बनी, नयी पुती कोठियाँ और बस—स्वप्न भी इतने सुकुमार और ललित नहीं होते!

देवनगर के देवता सरेशाम से ही अपनी कोठियों में बन्द हो जाते। नौ-साढ़े-नौ तक बत्तियाँ भी बुझ जातीं, पर हम दोनों गयी रात तक देवनगर की सड़कों और रविशों पर घूमा करते। कभी जब मन होता, तीरथराम मेरे साथ मिलकर बेतहाशा ठहाके लगाता। अपने बाजुओं के पट्ठों पर घूंसे मारता हुआ वह मेरे पतले छरहरे शरीर का मज़ाक उड़ाता। कभी जब मैं नंगे सिर होता या बाल सँवारता तो कहता—"तुम्हें औरत होना चाहिए था, ऐसे सुनहरे रेशमी लम्बे बाल तो औरतों के भी नहीं होते," लेकिन कई बार वह एकदम चुप हो जाता और यदि मैं मज़ाक करके हँसता तो मेरी वह हँसी निपट अकेली रहती, उसके ओठों पर मुस्कान तक न आती। धीरे-धीरे मैं भी चुप हो जाता। तीरथराम बार-बार आहें भरता। जब मैं कारण पूछता तो चुप रहता या केवल मुस्करा देता—एक क्षीण-सी उदास मुस्कान! मेरे बहुत पूछने पर एक दिन उसने संकेत किया कि गाँव में एक लड़की से उसका प्यार है और उसकी याद कभी-कभी चाँदनी रातों में उसके जी को जलाती है।

किचन से दूध के गिलास लेकर हम डाइनिंग हाल की एक खिड़की के पास जा पहुँचे। मैं चौखट पर बैठ गया और वह खड़ा रहा। दूध खत्म करके चिलगोज़े गटकते हुए तीरथराम ने कहा—"रातभर मैं बिल्कुल नहीं सोया, कम्बख्त यह चाँदनी ऐसी थी कि

मालूम होता था जैसे कहीं कुछ भी छिपा नहीं, सब कुछ खुला है, दिल का तारीक-से-तारीक कोना चमक उठा है।"

वह कुछ क्षण चुप रहा। फिर बोला—"जाने मुझे इन रातों में क्या हो जाता है। नींद बिल्कुल ग़ायब हो जाती है। सुनता हूँ चाँदनी का पागलपन के साथ बड़ा सम्बन्ध है, इसीलिए अंग्रेज़ी में पागल को ल्यूनेटिक याने 'चाँदमारा' कहते हैं। कहीं मैं पागल न हो जाऊँ!"

और वह ज़ोर से हँसा। खाली, खोखली हँसी! फिर कुछ क्षण चुप रहकर उसने अचानक कहा—"जब आँखें ज़ोर से बन्द करने और उन पर तौलिया रखने के बावजूद मुझे नींद न आयी तो मैंने उठकर एक कविता लिखी।"

"पूरी?"

"हाँ। नींद ही नहीं आयी। ख़त्म करके ही सोया।"

और वह कविता सुनाने लगा।

"देखो तीरथराम," कविता सुनकर मैंने कहा—"तुम्हें जिससे प्यार है, वह यहीं कहीं है।"

तीरथराम ने ठहाका लगाया—

"अरे नहीं यार! यहाँ क्या है, सिवा बाहर और भीतर की वीरानी के!" और 'भीतर' कहते हुए दिल की ओर संकेत कर उसने लम्बी साँस ली।

लेकिन न उसके ठहाके ने मुझे विश्वास दिलाया और न दिल की वीरानी के बारे में उसकी ग़प ने। मैंने कहा—"तुम न बताओगे तो मैं खुद ढूँढ़ लूँगा।"

तब उसने वापस आते-आते अपने गाँव की एक लड़की की कहानी सुनायी, जो उससे प्यार करती थी, पर जिसकी शादी कहीं और हो

गयी थी। तीरथराम जब भी गाँव जाता उससे मिलने को छटपटाता। कभी-कभी वह भी मैके होती। तब दृष्टियों का विनिमय हो जाता, लेकिन तीरथराम की पत्नी उसका वहाँ जाना पसन्द न करती।

"तुम्हारे पत्नी भी है?" अचानक मैंने पूछा।

"हाँ मेरी शादी तो लड़कपन ही में हो गयी थी।"

"बच्चे भी हैं?"

"हाँ।"

"कितने?"

"दो — दोनों लड़के। एक दस वर्ष का, एक चार का।"

"तुम उन्हें यहाँ क्यों नहीं लाते?"

"अभी जगह नहीं। यहाँ दस कोठियाँ हैं। एक विवाहित सैनिक और उनके साथ एक कुँवारा या बे-बीवी का—इस तरह एक-डेढ़ कुटुम्ब हर कोठी में रहता है। कुछ और कोठियाँ बनें तो ले आऊँगा।"

और हम वापस कोठी पर पहुँच गये। आकर अभी मुश्किल से कमरे का दरवाज़ा खोला होगा कि देवा जी हमारी ओर आते दिखायी दिये।

हम हड़बड़ाकर उठे। उन्होंने लॉन की गोल सड़क ही से मुझे आने का संकेत किया।

मैं 'नमस्कार' करता हुआ उनके पास चला गया। दायें हाथ से मुझे बग़ल में लेते हुए उन्होंने बड़े मीठे स्वर में कहा—

"देखो भाई, आपके बारे में तरह-तरह की बातें मेरे कान में पड़ती हैं। अभी सेक्रेटरी ने आपकी शिकायत की है कि आप तीरथराम के साथ आधी-आधी रात तक दीवानों की तरह बाहर घूमते रहते हैं। यहाँ केवल अठारह-बीस घर हैं। उन सबसे मिलकर न रहोगे तो

यहाँ रहना कठिन होगा। लोग तीरथराम को दीवाना समझते हैं। वे उससे खुश भी नहीं। आप उससे मिलेंगे और उनसे न मिलेंगे तो वे आपसे भी नाराज़ हो जायँगे। आप सबसे मिल-जुल कर रहिए।"

"जी, बहुत अच्छा।"

और मुझे स्नेह-से ज़रा-सा भींचकर और मेरे कँधे को थपथपाते हुए जैसे अपने मनोरथ में सफल, खुश-खुश देवा जी चले गये।

उसी शाम किसी से दियासलाई की डिबिया, किसी से सूई-तागा, किसी से बटन और किसी से ब्लाटिंग लेने अथवा किसी-न-किसी बहाने से मैं सब घरों में हो आया और गृहणियों से बहन, भाभी, चाची और ताई का रिश्ता भी स्थापित कर आया।

लेकिन देवा जी के परामर्श से ज़्यादा मैं यह जानना चाहता था कि इन अठारह-बीस घरों में ऐसी कौन-सी युवती है जो तीरथराम की आहों का कारण बनी हुई है।



सारे नगर में तीन कबूल-सूरत औरतें थीं, जिन्हें चाहा जा सकता था। सुन्दर मैं इसलिए नहीं कहता कि मुझे उन तीनों में से एक भी सुन्दर नहीं लगी।

उनमें से एक तो ड्योढ़ी के साथ वाली कोठी में रहने वाले देवसेना के मंत्री गुरबचनसिंह की बीवी थी—जीत! उम्र ज़्यादा न थी। बच्चा अभी उसके कोई हुआ न था। थी भी खुली तबीयत की। नाक-नक्शा तीखा न था, पर बुरा भी नहीं। वह ज़रूर सुन्दर लगती, यदि बात करके वह कुछ नीम-पागलों की तरह हँस न देती। उसकी वह हँसी कुछ अजीब थी। सदा ऐसा लगता था कि उसके दिमाग़ का कोई पुर्जा ढीला है।

इसी बँगले के एक कमरे में सुदर्शनसिंह रहता था। ठिगने से क़द का गोरा-गोरा युवक, जिसकी पीठ पर बड़ा हलका-सा कूबड़ था। स्त्रियों की तरह गालों पर उसके बाल न थे, केवल ठोढ़ी पर बकरे की-सी डाढ़ी थी। देवनगर में वह सुन्दर समझा जाता था और सरदार पालासिह आर्टिस्ट की पत्नी से उसकी देवताओं-ऐसी प्रीति थी।

दूसरी स्त्री जो कुछ कबूल-सूरत कही जा सकती थी और देवनगर में जो खासी सुन्दरी समझी जाती थी, इन्हीं पालासिह आर्टिस्ट की अर्धांगिनी थीं। उम्र तो उनकी पचीस से तीस के अन्दर-अन्दर थी, पर कुछ तो आर्टिस्ट की पत्नी होने और फिर बूढ़े आर्टिस्ट (बूढ़े तो नहीं थे, पर जवान भी नहीं, उम्र उनकी पचास को होने आयी थी) की दूसरी पत्नी होने के कारण नख़रा उनका बड़ा था। भरे खुले देहाती वातावरण में पले अंगों वाली। गोरा-गदराया पके बगूगोशे* जैसा तन और देवनगर की प्रीतभरी फ़िज़ा में साँस लेकर उड़ने और अरमान देखने के सपने लेने वाला मन। आर्टिस्ट महोदय रात को सोते समय चारों मग्ज़, खशखाश और बादामों का हरीरा पीते थे—यों तो दिमाग़ को मज़बूत करने के लिए, पर यदि दिमाग के साथ जिस्म भी कुछ शक्ति पा ले तो क्या बुरा है। पहली बीवी से सौभाग्यवश कोई बच्चा न था! तीन बच्चे दस वर्ष के वैवाहिक जीवन में इनसे थे। लेकिन बच्चे गोद के होने की स्टेज को पार कर गये थे, माँ भी शेखूपुरा के संकुचित वातावरण से निकलकर देवनगर के स्वच्छन्द वायुमण्डल में साँस लेने लगी थीं। पढ़ी बिल्कुल

---

* काश्मीरी नाशपाती

न थीं, पर बातचीत ऐसे करती थीं जैसे बड़ी पढ़ी-लिखी और फ़ारवर्ड याने नयी रोशनी की हों। सुदर्शनसिंह चाय के समय प्रायः वहीं आया करता था।

तीसरी महिला जिसकी ओर किसी की नज़र जा सकती, बिल्डिंग डिपार्टमेण्ट के इंचार्ज नन्दलाल की पत्नी सावित्री थी। दो बड़े ही सुन्दर बच्चे थे उसके। एक का नाम था मदन और दूसरे का रीता—देवा जी की दो कहानियों के नायक-नायिका से उन्होंने ये नाम लिये थे। सावित्री पतले-छरहरे शरीर की क़दरे लम्बी स्त्री थी। आँखें उसकी भूरी और आकर्षक थीं। ओठों पर सदा हलकी सी मुस्कान रहती थी। लेकिन एक तो उसके कल्ले ज़रूरत से कुछ ज़्यादा अन्दर धँसे हुए थे और निचला ओठ कुछ अधिक लटका रहता था, दूसरे न केवल उसके बच्चे सुन्दर थे, बल्कि उसका पति भी सुन्दर था और वह घर में भरी-पूरी थी।

बाक़ी दस घरों में ज्ञानी दिलावरसिंह की पत्नी थी, अवतारसिंह की पत्नी थी, मधवार साहब की पत्नी थी, खोसला साहब की पत्नी थी, हरनामसिंह की पत्नी थी और खुद देवा जी की पत्नी थी—लेकिन वे न जाने कब की उस हद को पार कर गयी थीं, जब कोई युवती किसी कवि के निश्वासों का कारण बनती है। वे प्रायः घर पर रहतीं। डाइनिंग-हाल में खाना परसने पर भी उनकी ड्यिुटी न लगती। दो-एक तो खाना भी घर में ही पकाती थीं। लड़की देवनगर में कोई न थी। वाणी और मधु—देवा जी की दो लड़कियाँ थीं और मधवार साहब के थी श्यामा—पर वे तो बच्चियाँ थीं।

और मुझे उन सब में एक भी ऐसी न लगी जो तीरथराम की आहों और रतजगों का कारण होती। तो क्या तीरथराम ठीक कहता

है कि उसके गाँव के अतीत में खोयी उसकी प्रीति देवनगर की इन चाँदनी रातों में उसका दिल दुखाती है ?

लेकिन नहीं, तीरथराम की प्रीति वहीं बसी थी। दो महीने के बाद अचानक मुझे इसका पता चल गया।

दिसम्बर का महीना था। बड़े दिन की शाम। तीरथराम से मुझे पता चला कि देवनगर में बड़े दिन की शाम को बड़ा समारोह होता है और उसने अनुरोध किया कि मैं ज़रूर ही उसमें भाग लूं। उसने यह भी बताया कि उसने इस अवसर के लिए विशेष-रूप से एक कविता लिखी है और वह उसे सुनायेगा। "हिन्दी की कविता यहाँ कोई समझता ही नहीं," उसने कहा, "तुम अकेले आदमी हो, जिसे अपनी कविता सुनाकर मुझे खुशी होती है।"

मेरा मन न जाने क्यों कहीं भी जाने को न हो रहा था। दिसम्बर के इन्हीं दिनों में मेरी पत्नी बीमार हुई थी। शहर में अखिल भारतीय प्रदर्शनी चल रही थी। कई दिनों से वह उसमें जाने को कह रही थी, किन्तु प्रदर्शनी नवम्बर के तीसरे सप्ताह में शुरू हुई थी और वेतन सारे का सारा तब तक समाप्त हो चुका था। उसके पास चन्द एक रुपये जमा थे, पर उन्हें लेकर खर्च कर देने को मेरा मन नहीं हुआ। वेतन कुछ देर से मिला, लेकिन जिस दिन मिला, उसी शाम घर पहुँचते ही मैंने कहा—"प्रीतम, बस तैयार हो जाओ मेरी जान, आज नुमाइश चलेंगे।"

"मैंने कितनी बार कहा कि मुझे प्रीतम न बुलाया करो," वह तिनकी—"प्रियतम तो तुम मेरे हो।"

"यह तो तुम अपने माता-पिता से कहो, जिन्होंने तुम्हारा यह नाम रखा। उनका दिया नाम बिगाड़ने वाला मैं कौन होता हूँ ?"

"तुम मुझे पित्तो कहा करो, वस !"

"पित्तो तो कहता ही हूँ, पर कभी-कभी प्रीतम कहने को भी मन हो आता है। प्रीतम का मतलव है महबूब—और इस शब्द में दोनों समा जाते हैं—पर तुम नाम की बहस छोड़ो, बस पलक झपकते तैयार हो जाओ।"

"थके आये हो, चाय का एक प्याला....."

लेकिन मैंने उसे बात नहीं खत्म करने दी। उसकी दोनों बगलों में हाथ देकर लगभग झुलाता हुआ मैं उसे अन्दर ले गया और ट्रंकों पर टिके बड़े शीशे के आगे उसे ले जाकर खड़ा कर दिया। फिर उसके बालों को हलके से चूमते और शीशे में उसके गालों का गुलाब बनते देख, मैंने कहा—"चाय-वाय सब वहीं होगी। वस तुम तैयार हो जाओ।"

मेरी बीवी छोटे-से क़द की थी, पर उसका रंग गोरा और तन सुडौल था। अंग-अंग उसका जैसे सांचे में ढला था। वह खड़ी होती तो उसकी कमर में हलका-सा खम आ जाता—ऐसे कि नितम्ब और वक्ष दोनों अलग-अलग दिखायी देते—बिल्कुल जैसे अजंता की कोई युवती ! मुस्कान और हँसी उसकी बड़ी प्यारी थी, क्योंकि दांत प्यारे थे — न कोई ऊँचा न नीचा और सफ़ेद जैसे मोती ! वह हँसती तो मैं प्रायः तान लगाता—

दन्द मोतियां दे दाने
न हस्स जान, डिग जाणगे।

वह और भी ज़ोर से ठहाका मार देती और उसके दोनों गालों में हलके-हलके गढ़े बन जाते और मैं प्यार से उसे 'डिम्पल'* या 'डिम्प' कहकर पुकारा करता।

वह मुझे बड़ा प्यार करती। उस प्यार में कुछ अजीब-सी ममता थी। क़द में वह मुझसे छोटी थी, पर उस वक्त अचानक बड़ी होकर जैसे वह मेरे अस्तित्व पर छा जाती। मेरे रेशमी सुनहरे बाल और मेरे पतले ओठ उसे बड़े प्यारे लगते थे। कई बार वह उन्हें खोल देती और बाहों में भर लेती। कहती—"इतना रेशम तुमने कहाँ से पा लिया?" और मज़ाक करती कि मेरे दादा या नाना ज़रूर रेशम का व्यापार करते होंगे। उसे खेद था कि उसके बाल न मुलायम थे, न सुनहरे, न घुंघराले—रूखे और घने, जिन में मनो तेल लगाया जाय तो भी उस कोमलता का शतांश तक न आय जो मेरे बिना तेल लगे बालों में होती। वह अपने माता, पिता और भाई-बहनों के बालों का ज़िक्र करती कि किसी एक के बाल भी मेरे-जैसे न थे और कभी-कभी अपनी दो अँगुलियों से वह मेरे ओठों को प्यार से बिल्कुल ऐसे छूती जैसे किसी नन्हें से बच्चे के......

वह तैयार हो गयी तो मैं क्षण भर खड़ा उसे देखता रह गया। कानों में उसने कोई गहना न पहना था, इस डर से कि भीड़ में कोई गहने के साथ कान भी न खींच कर ले जाय। केवल काले-पीले मोतियों के कर्णफूल उसके कानों में लटक रहे थे। लेकिन उसके गोरे-गोरे मुख पर वे काले मोतियों के कर्णफूल....मैंने चलते वक्त कहा—"पित्तो, मैं तुम्हारा पति हूँ। जब तुम्हें देखकर मेरा दिल

---

* हँसते समय गालों में बन जाने वाला हलका सा गढ़ा।

धक-धक करने लगता है, तो दूसरे लोगों के दिलों पर न जाने क्या बीतेगी ?"

"शरम नहीं आती तुम्हें ऐसी बातें करते," मुझे ठहोका देकर वह आगे निकल चली।

"मेरी जान, नज़र न लग जाय, बस यही सोचता हूँ," मैंने क़दम बढ़ाते हुए कहा।

"इसीलिए तो पीले मोतियों के साथ काले पहने हैं!" वह हँसी।

पर न जाने कितनी नज़रें उस मुखड़े पर पड़ीं कि वे काले मोती उनकी कुदृष्टि से उसे न बचा सके। लगभग आधा वेतन नुमाइश की भेंट करके, खा-पी और खरीदकर, जी-भर ख़ुशी मनाने के नशे से चूर, एक दूसरे की प्यारभरी नजरों पर जैसे झूलते हुए जब हम घर पहुँचे तो प्रीतम ने कुछ सिर-दर्द की शिकायत की। "मेरा जी कुछ घुट-सा रहा है," उसने कहा। और उन्हीं कपड़ों समेत वह बिस्तर पर लेट गयी। कुछ देर बाद उसे कै हुई। कलाई पर मैंने हाथ रखा तो वह बेतरह तप रही थी।

और जैसे प्याला जब लबालब भर जाता है तो छलक उठता है, मेरी ख़ुशी का प्याला भी छलक उठा। उस रात वह बीमार होकर जो बिस्तर पर पड़ी तो फिर नहीं उठी।....

दिसम्बर की उन रातों में बार-बार मेरे सामने बीते दिनों की उल्लासमयी स्मृतियाँ घूम जातीं और मन कुछ अजीब-सी उदासी से भर उठता। तीरथराम के ज़ोर देने पर मैं कहना चाहता था कि भाई जाओ, मुझे न छेड़ो, अपने इस अँधेरे एकान्त में पड़ा रहने दो—यह फूल बाग़ में खिला है, हवा की चंचल बालाओं के संग मस्त झूमा है, तितलियों के रंगीन ओठ इसने चूमे हैं, ओस की आँखों में झाँका है

और ऊषा के स्पन्दनों से अपने दिल की धड़कनें मिलायी हैं, लेकिन अव यह डाली से टूटकर मुरझा गया है, इसपर आगत का गहरा कोहरा छा गया है। इसे चुपचाप पड़ा रहने दो, अकेलेपन के कोहरे भरे अँधेरों को इस पर छा जाने दो. . . .लेकिन मैं तो कवि नहीं था कि अपनी उदासी को इस तरह स्पष्ट व्यक्त कर पाता। मैंने केवल इतना कहा—"तीरथराम मेरा मन नहीं होता कहीं जाने को। तुम जाओ!"

लेकिन तीरथराम इस तरह कव माननेवाला था। मुझे वरवस वह ड्योढ़ी में ले गया और अन्यमनस्क-सा मैं कोने में विछी एक आरामकुर्सी पर जा वैठा।

खाना क्योंकि खत्म हो चुका था, इसलिए डाइनिंग हाल में जलने वाला वाला गैस ड्योढ़ी में आ गया था। देवनगर के सव वासी धीरे-धीरे उसमें आ इकट्ठे हुए। लेकिन कार्यक्रम उस समय तक रुका रहा, जव तक कि देवा जी नहीं आ गये। खाना खाने के वाद वे आध-एक घण्टा देवनगर की रविशों पर घूमा करते थे। वे प्रायः पहली वारी में खाना खा लेते थे और जब तक तीसरी पाँत खाना समाप्त करती, वे घूमने से फ़ारिग़ हो जाते थे।

पूछने पर पता चला कि वे अव भी दिलजोत की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह उनका लड़का था। शहर के गवर्नमेण्ट कालेज में पढ़ता था। वड़े दिनों की छुट्टियों में आ रहा था और प्रतिपल उसकी प्रतीक्षा थी। सुवह से माता जी उसकी वाट देख रही थीं, पर न जाने वह मित्रों में उलझ गया था, या उसे कोई काम हो गया था कि उस समय तक वह आया न था।

देवसैनिक अपने परिवारों-समेत इकट्ठे हो गये थे, लेकिन देवा-जी अभी तक न आये थे। मैं कोने की अपनी कुर्सी पर लगभग पीछे को लेटा मौन रूप से उन सबको देख रहा था—इतनी औरतें और इतने आदमी किसी दूसरी जगह त्योहार के अवसर पर इकट्ठे होते तो न जाने कैसी हँसी-ठिठोली से हाल को गुंजा देते, पर देवनगर के वासियों से वैसी आशा नगर के संचालक को न थी। वैसी हँसी-ठिठोली तो आसुरी ठहरी। देवनगर के वासियों से तो सभ्य, संस्कृत, देवता-सुलभ हँसी-ठिठोली की अपेक्षा थी, शायद यही कारण था कि देवा जी के आने से पहले वहाँ जो बातचीत और हँसी-मज़ाक हो रहा था, वह बड़ा ही नपा-तुला, तकल्लुफ़-भरा और औपचारिक था....कहीं यदि अश्लीलता थी भी तो लगता था कि वह भी देववाणी का अंग है—ऐसे अदा किया जाता था उसे......

"कहिए जीत जी," सेक्रेटरी साहब को अपनी पत्नी के साथ सीढ़ियाँ चढ़ते देखकर सुदर्शनसिंह ने कहा, "दो ही बने रहने का इरादा है आपका, तीन होने का नहीं?"

जीत जी नीम-पागलों की तरह हँस दीं। लेकिन उनके पति महोदय बिना शरमाये आयुर्वेद के प्रेमी खोसला साहब की ओर देखकर बोले—"खोसला साहब यदि हमें भी एक माशा सिद्ध मकरध्वज खिलायें तो हम दो से तीन क्या, चार हो जायँ।"

इस पर एक हलका-सा ठहाका पड़ा और 'सिद्ध मकरध्वज खाओ तो दो से चार क्या, दस हो जाओ'—खोसला साहब का यह उत्तर किसी ने नहीं सुना।

"कहिए चक्रवर्ती जी," हरनामसिंह ने उनकी गंजी चाँद की ओर संकेत किया, "भृंगराज तेल कुछ लाभ कर रहा है कि नहीं? खोसला साहब ने तो जान लगा दी उसे तैयार करने में।"

"कनपटियों के पास तो वाल काले हो रहे हैं," सुदर्शनसिंह ने कहा और हरनाम सिंह को आँख मारी।

"बस अब एक शीशी सिद्ध मकरध्वज की खा लें, बाल आने भी लगेंगे," सेक्रेटरी साहब बोले।

इस पर फिर एक हलका-सा ठहाका पड़ा।

इस टोली से हटकर चन्द मित्रों के साथ ज्ञानी दिलावरसिंह शिलांग के अपने फ़ार्म के किस्से सुना रहे थे। वे पहले देवमण्डल के सेक्रेटरी थे, फिर देवा जी से आशीर्वाद लेकर आसाम में (जहाँ उनके एक सम्बन्धी की कुछ ज़मीन थी) देवमण्डल की शाखा खोलने की घोषणा कर चले गये थे। लेकिन मलेरिया ने चार ही महीने में उनका जोश ठंडा कर दिया था और आसामवासियों को देवता बनाने का मोह छोड़कर वे वापस आ गये थे। सुना जाता था कि अब वे फिर उसी पद को पाने के लिए लालायित हैं और सुबह-शाम देवा जी की अरदल में सैर को जाते हैं। आसाम-प्रवास उनका प्रिय विषय था और उन्हें जब समय मिलता था, उसकी कोई न कोई घटना सुनाते थे और जब कभी हँसते थे तो अपने दोनों ओर बैठे साथियों की बग़लों में हाथ देकर जोर से "हिं हिं, हिं हिं" करते हुए अर्ध-विराम के स्थान पर उन्हें ऐसे झटके देते थे कि उनकी बाहें स्कंध-मूलों से उखड़ती-सी प्रतीत होने लगती थीं।

उनसे ज़रा हटकर देवनगर के एकाउण्टेण्ट मघवार साहब किसी

योगी की तरह निर्लिप्त बैठे थे और नन्दलाल और कुलबीरसिंह आपस में कुछ मिसकौट कर रहे थे।

तीरथराम मुझे वहाँ बैठाकर चला गया था। ड्योढ़ी में बैठी किसी टोली के हास-परिहास की मिसकौट में वह शामिल न हुआ था। एक-दो बार मैंने ड्योढ़ी से बाहर उसे इधर-से-उधर चक्कर लगाते देखा था। उसकी गति में विह्वलता थी। शायद वह अपनी कविता दोहरा रहा था।

तभी देवा जी अपनी पत्नी, बच्चियों, देवनगर के भूतपूर्व स्वामी पंडित हजारीलाल मिश्र, किचन तथा डेयरी के इंचार्ज हरमोहनसिंह के साथ आये। हरमोहन दूर के रिश्ते से उनका भतीजा था, लेकिन उनकी तरह 'मोना' न था। वह सजी-सँवरी दाढ़ी और लम्बे-लम्बे केश रखता था, जो बड़ी मेहनत से बँधी दस्तार में बन्द रहते थे। दाढ़ी पर कहीं-कहीं वह (यद्यपि यह बात धर्म-विरुद्ध थी) कैंची का प्रयोग कर लेता था, पर इतनी सी बात उस आधुनिक बस्ती में क्षम्य थी।

देवा जी के आते ही सब लोग खड़े हो गये। वे बीच में आकर बैठ गये। उनकी पत्नी, जो मोटापे की ओर को मायल, मझोले क़द की गोरी-गोरी स्त्री थीं और अपने आपको देवनगर के साम्राज्य की एकछत्र सम्राज्ञी समझती थीं, अपने पति के पास बैठ गयीं। साथ ही दोनों लड़कियाँ बैठीं।

और तब सबके पीछे तीरथराम अन्दर आया और हाल के एक स्तम्भ से लगकर चुपचाप खड़ा हो गया।

मेरे साथ एक आरामकुर्सी खाली पड़ी थी, मैंने तीरथराम को संकेत किया कि वह मेरे पास आ बैठे।

उसने हाथ के इशारे से बताया कि मैं बैठा रहूँ, वह ठीक है वहीं।

उस समय जब कार्रवाई का एजण्डा बन रहा था, देवाजी की बड़ी लड़की वाणी अचानक अपनी जगह से उठी और मेरे बराबर की खाली कुर्सी पर आकर बैठ गयी।

मैं तनिक सा चौंका और ज़रा-सा परे हट गया।

वह मेरी कुर्सी की बाँह पर झुक गयी और बड़े प्यारे, मीठे स्वर में धीमे से बोली—"संगीतजी आप बहुत अच्छा गाते हैं।"

"मैं बहुत अच्छा गाता हूँ?" मैंने जैसे उसी से प्रश्न किया।

मैं गाता भी हूँ, मेरा खयाल था कि देवनगर में किसी को यह बात मालूम नहीं। कभी किसी के सामने गाना तो दूर, मैं गुनगुनाया तक न था। और तो और तीरथराम तक को मेरे गाने का पता न था।

मेरा दायाँ हाथ कुर्सी के हत्थे पर टिका था और वाणी के यों मेरे पास आ बैठने की किंकर्तव्य-विमूढ़ता में वहीं टिका रह गया था। वाणी ने अपना नन्हा-सा, पतली-पतली सुकोमल अँगुलियों वाला, कलाकार के चित्र सरीखा हाथ, उसके पास रख दिया। वह धीरे-धीरे मेरे हाथ के इतना निकट आ गया कि मुझे लगा, यदि मैंने एकदम हटा न लिया तो मैं अपना हाथ उसके हाथ पर रख दूंगा।

और मैंने अपना हाथ हटा लिया और उसे अपनी पीठ पीछे कर लिया।

इस प्रक्रिया में मैं पीछे को झुक गया और मेरी आँखें ऊपर उठ गयीं। एक साथ मेरी दृष्टि देवा जी, हरमोहन और तीरथराम से मिली। वाणी के पिता, चचेरे भाई और तीरथराम को उसके यों

मेरे पास आ बैठने पर हैरत थी। देवनगर की खुली फ़िज़ा में यह बात हैरत का विषय न थी, पर वह मेरे पास आ बैठी, इस बात पर उन्हें आश्चर्य्य था। यह ठीक है कि मुझे देवनगर आये तीन महीने हो गये थे और मैं देवा जी के आदेशानुसार दूसरे घरों में आने-जाने भी लगा था, पर नन्दलाल के घर को छोड़कर मैं कहीं भी न जाता था और वाणी से तो मेरा कभी साक्षात्कार भी न हुआ था।

यह सब जैसे एक निमिष में हो गया। मेरी आँखों से मिलते ही जब उन्होंने आँखें फिरा लीं और मैंने फिर निगाहें नीची कीं तो वाणी ने मेरे प्रश्न के उत्तर में मेरी ओर देखा।

उसकी वे निगाहें कैसी थीं? सिर तनिक दायीं ओर को और मुंह नीचे को झुका था। वहीं से वे मेरी निगाहों में झाँक रही थीं। नीचे को झुके मुख की वह ऊपर को उठी दृष्टि न जाने कैसे मेरे अन्तर तक उतरती चली जा रही थी।

'इसने इस छोटी सी उम्र में कहाँ से ऐसे देखना सीख लिया?' धड़कते हुए दिल से मैं सोच रहा था और वह कह रही थी—"मैंने कई बार सुना है आपको गाते। इस आशा में कि आप गायेंगे, मैं गयी-गयी रात तक जागा करती हूँ। और फिर अचानक नमित रहकर भी उसी ऊर्ध्वगा दृष्टि से मेरे हृदय को बेधते हुए उसने पूछा—"आप दिन को कभी क्यों नहीं गाते?"

मैं हँसा। "मैं कोई गवैया नहीं," मैंने कहा, "योंही जब कभी नींद नहीं आती, एक-आध बोल अलाप उठता हूँ। कोई सुनता भी है, यह जानता तो शायद न गाता।"

वह हँसी—"क्यों?"

लेकिन इससे पहले कि मैं उसे क्यों का उत्तर देता, देवा जी बोलने लगे थे।

"आज से साल भर पहले इस जगह, जहाँ हम मिलकर बड़े दिन की खुशी मना रहे हैं," उनकी गहर-गम्भीर, लेकिन मिठास और विश्वास से भरी आवाज़ गूँजी, "दिन को भी कोई न आता था और इस ड्योढ़ी के खण्डहर अपने पार्श्व में टूटी-फूटी फ़सील की भयानकता लिये हुए भायँ-भायँ किया करते थे। उन दिनों जब मैंने 'देववाणी' के कुछ अंकों में 'देवमण्डल' और 'देवसेना' की योजना दी थी तो स्नेहियों ने इसके पक्ष और विपक्ष में दोनों तरह के विचार रखे थे। मैंने अपना मन्तव्य और भी साफ़ करके प्रकट किया तो स्नेहियों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया था। मुझे आज एक वर्ष बाद भी एक स्नेही के पत्र की याद आती है। इतने मित्रों को मैंने वह सुनाया है कि मुझे लगभग सारे-का-सारा याद हो गया है। स्नेही ने लिखा था—'आपका कृपा-पत्र मिला, संशय दूर हुआ, कृपा कर देवमण्डल का झंडा जितनी भी जल्दी हो, खड़ा कर दीजिए।' और न केवल उन्होंने देवमण्डल के अविलम्ब अस्तित्व पाने की इच्छा प्रकट की, बल्कि बड़े अरमान-भरे ढंग से उसकी रूप-रेखा भी लिख भेजी। 'मन में बड़े-बड़े अरमान हैं", उन्होंने लिखा था, 'बड़ी हसरतें हैं। मज़हबी झगड़े देखकर मन में विचार आता है कि कमर कसके उठ खड़े हो और इंसान को इंसान की पहचान करायें। अंध-विश्वास का पाखण्ड चारों ओर फैला हुआ है। लोग दूसरों के साथ ही नहीं, अपने साथ भी धोखा कर रहे हैं। व्यापार गंदा करते हैं; वोट ग़लत डालते हैं; विद्या ऐसी देते हैं कि वह हमारे दिमाग़ों को रोशन करने के बदले तारीक बनाती है, हमारे दिलों को बड़ा करने के बदले संकुचित

करती है। यदि हमारी वुद्धि और वल को ठीक-ठीक विकास करने के साधन मिलें तो हम समझदार, रोशन-दिमाग़ और उदार-हृदय हों। फिर तंग मकानों के पास गन्दी नालियाँ न वहें, बागों की छाया में सुन्दर भवन हों, गरीबों में घिरा कोई अकेला मालदार, चाँदी की ईंटों को सिर पर उठाये, चोरों से छिपता न फिरे, वल्कि सभी पेट भर खायें और विकास के सपने देखें। दिन चढ़े; किरणों के सुस्पर्श से लोग जागें; खुले माथे, मुस्कराती आँखों और फैली बाहों से एक-दूसरे का स्वागत करें; प्रभात में जगी चिड़ियों की तरह एक-दूसरे को बुलायें; हँसें-खेलें और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार जीवन का उद्देश्य ढूंढ़ें .....'

देवा जी का भाषण सुनते-सुनते अनजाने मेरा हाथ पीठ के पीछे से फिर कुर्सी के हत्थे पर आ गया था। सहसा मैंने हलका-सा स्पर्श और उस स्पर्श से विजली की-सी लहर अपने शरीर में दौड़ता महसूस की। मेरा ध्यान वटा—देखा, वाणी निरन्तर मेरी ओर देख रही थी और उसका हाथ मेरे हाथ को छू रहा था।

मैंने अपना हाथ फिर पीछे कर लिया। सामने के स्तम्भ से लगे तीरथराम से मेरी आँखें चार हुई। वह निर्निमेष हमारी ओर देख रहा था—भौंहें चढ़ी और आँखें तनी थीं और उसके चेहरे पर काला सा बादल घिर आया था।

और देवा जी कह रहे थे......

'स्वर्ग इस संसार पर उतर आये, यही वैकुण्ठ हो जाय और इसके पवित्र आनन्द ही से परमानन्द की प्राप्ति हो। लेकिन परमानन्द की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब अतिरिक्त बंधन न हों। न दिखावा हो, न धोखा हो। सहज-स्वभाव, सच्चे प्रेम और भक्ति की तरंगें उठें।

ख़ूब अवकाश हो। अवकाश में आनन्द हो। भरे-पुरे अवकाश में ही ज्योतिष, हिकमत, इत्यादि का विकास हो सकता है।'

"उस स्नेही की चिट्ठी," देवा जी ने निमिष भर रुककर कहा, "मेरे ही अरमानों का प्रतिबिम्ब थी। मैंने देवमण्डल की स्थापना कर दी। लेकिन अपने और अपने स्नेहियों के उत्साह के वावजूद, मैं इस बात से अनजान न था कि हमारे देश में कुकरमुत्तों की तरह सिर निकाल कर अलोप हो जाने वाले मण्डलों, संघों, सभाओं, समाजों और संस्थाओं ने जनता को काफ़ी शक्की बना दिया है। पाठशालाओं, मन्दिरों, गौशालाओं और अनाथालयों को चन्दे देकर लोग थक गये हैं और इसीलिए हर नये आन्दोलन को टेढ़ी नज़र से देखते हैं। लेकिन इस पर भी मैं जानता था कि जो कोई देवमण्डल की रूप-रेखा, उसके आशयों और उद्देश्यों पर विचार करेगा, वह जान लेगा कि मण्डल का आह्वान उन्हीं आत्माओं के लिए है जो प्रीति के पंखों पर उड़कर आसमान को छूने की साध रखती हैं। और मैं जानता था, जो एक बार भी स्वार्थ की कठोर धरती से उड़कर प्रीति के आकाश में दो चक्कर लगा आयेंगे वे बेक़रार हो जायेंगे कि भ्रमों में जकड़े, गरीवी के दलदल में फँसे भाइयों की आँखें मिट्टी से हटाकर सितारों की ओर लगा दें और यदि इस काम में उन्हें कुछ देना भी पड़े तो वे अपना सौभाग्य समझें। तब मैंने लिखा था कि इस मण्डल को चन्दे की चिन्ता नहीं। हमें एक ऐसा मण्डल बनाना है जिसकी हवा हलकी और पवित्र होगी, जिसके दरवाज़े खुले और कुशादा होंगे, जिसमें साँस लेने वालों के दिल विशाल और उदार होंगे। यदि मण्डल में कोई खिंचाव रहेगा तो आने वाला ठहरेगा, नहीं किसी दूसरी योग्य संस्था में चला जायगा। और जो रहेगा, वह जो चाहे

देदे, और जो चाहे ले ले। मेरी अपील पर प्रीति के शैदाइयों ने, राक्षस-नगरियों में देवनगर क़ायम करने के सपने लेने वालों ने, मुझे अपने सहयोग का बल दिया और आज आपकी आँखों के सामने, इस देश में—जिसका हर कोना स्वर्ग था, इस देश में जिसका हर कोना अब नरक है, पहला देवनगर क़ायम हो गया है। आज इस सुनसान खण्डहर में मेरे और आपके सपने साकार हो उठे हैं......!"

मैंने सुना था—देवा जी की लेखनी में जादू है, पर उन्हें बोलते देखकर मैंने जाना कि लेखनी ही में नहीं, उनकी वाणी में भी जादू है। वे अपने उसी धीर-गम्भीर पर मिठास और विश्वास भरे स्वर में बोले जा रहे थे और देव सैनिक, जैसे उनके मुख से निकलने वाले प्रत्येक शब्द को आँखों और कानों से पी रहे थे।

लेकिन वाणी बराबर मेरे चेहरे पर आँखें जमाये थी। और तीरथराम की निगाहें बराबर उस पर लगी थीं। वाणी की उन झुकी-झुकी आँखों की ऊर्ध्वगा दृष्टि में न जाने कैसा पैनापन था कि मैं उसका परस तक महसूस कर रहा था। उसी दृष्टि-स्पर्श से विवश होकर आखिर मैंने उसकी ओर देखा।

मुझे यों अपनी ओर देखने पर मजबूर करने की शक्ति से जैसे वह प्रसन्न हुई। उसके ओठों पर मुसकान की एक क्षीण-सी रेखा उदय होकर उसकी आँखों में फैल गयी।

"दार जी के भाषण के बाद आप गायेंगे?" उसने मेरी दृष्टि को अपने इस प्रश्न में समो लिया।

लेकिन मेरी नज़रें तीरथराम की ओर उठ गयीं। उसके मुख पर छाया हुआ हलका स्याह बादल गहरी घटा बन चुका था।

.....और देवा जी बता रहे थे कि किस प्रकार अपने पाठकों से चन्दा माँगने के बदले जब उन्होंने उनके सामने अमली योजना रखी कि उन्हें ऐसे पाँच सौ स्नेही चाहिएँ जो अपने सौ-सौ रुपये दस वर्ष के लिए उनको दे दें और बदले में वे उन्हें दस वर्ष न केवल 'देववाणी' मुफ़्त पढ़ने को देंगे, बल्कि साल भर किताबें भी देंगे, तो किस प्रकार तीन महीने के अन्दर-अन्दर पाँच सौ नहीं, छः सौ ऐसे स्नेही उन्हें मिल गये थे।

उनका रुपया डूबेगा नहीं, अपने स्नेहियों को यह विश्वास दिलाने के लिए देवा जी ने साठ हज़ार का बीमा करा लिया—इस शर्त के साथ कि दस साल से पहले उनकी मृत्यु हो जाय तो उसका रुपया उन लोगों को मिल जाय।

तब देवा जी का इरादा शहर में एक प्रेस खोलने और देव-साहित्य का प्रसार और प्रचार करने का था, पर हाथ में साठ हज़ार रुपया आते ही एक दूसरा सपना उनकी आँखों में लहरा गया—देवमण्डल को केवल साहित्य द्वारा ही अपने विचारों का प्रसार नहीं करना चाहिए, बल्कि एक ऐसा नगर बसाना चाहिए, जहाँ देवमण्डल के सपनों को साकार किया जाय। दिल्ली के एक बिगड़े रईस से केवल बाइस हज़ार में वह ऊसर धरती उन्होंने मोल ले ली। परकोटे की ईंटों से बाहर पक्की, पर अन्दर से कच्ची, लेकिन खूब लिपी-पुती दस कोठियाँ बना लीं। उनके चित्र 'देववाणी' में छाप दिये और 'देववाणी' द्वारा अफ्रीका, अमरीका, मलाया और बर्मा के अमीर, लेकिन वहाँ की स्वार्थभरी पूंजीवादी फ़िज़ा से ऊबे हुए अपने हिन्दुस्तानी पाठकों से अपील की कि वे देवनगर के आदर्श वातावरण में एक-एक कोठी बनायें; छुट्टियों के दिन वहीं गुज़ारें और रिटायर होकर वहीं निवास करें।

"हमारे कंधों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है", देवा जी कह रहे थे, "देवनगर में हमें एक ऐसा आदर्श वातावरण उत्पन्न करना है कि बाहर का जो स्नेही एक बार यहाँ आकर कुछ दिन रहे, वह उन चन्द दिनों की याद को फिर कभी न भुला सके। आओ, आज के शुभ दिन हम फिर अपने इरादों को पक्का करें कि इस दुनिया में सचमुच का देवनगर बसाने के अपने सपने को हम साकार कर दिखायेंगे!"

और तालियों के शोर में वे बैठ गये।

इसके बाद ज्ञानी दिलावरसिंह और सेना के मंत्री गुरबचनसिंह ने देवमण्डल के संचालक को विश्वास दिलाया कि देवसैनिक उस सपने को सच्चा कर दिखाने में अपनी-सी कर देंगे। जिस नगर की नींव उन जैसे महान दृष्टा के हाथों से पड़ी है, वह क्यों न देश में एक आदर्श नगर साबित होगा।

इन भाषणों के बाद मंत्री ने तीरथराम से प्रार्थना की कि वह अपनी कविता सुनाये।

लेकिन तीरथराम ने कहा कि उसकी तबीयत ठीक नहीं और वह उसी तरह उमड़ा-घिरा स्तम्भ से लगा खड़ा रहा।

मंत्री ने ज़ोर दिया कि उसने तो इसी अवसर के लिए कविता लिखी थी।

"लिखी थी, पर मेरा सिर बेतरह दर्द कर रहा है।" तीरथराम बोला और उसने वाणी की ओर करुण निगाहों से देखा। मुझे विश्वास है, यदि वाणी एक बार भी कह देती—'तीरथजी आप सुनाइए न कविता,' तो तीरथ के चेहरे पर घिरी हुई घटाएँ छट जातीं और वह प्रफुल्लित होकर चहकने लगता, पर वाणी ने उससे कविता पढ़ने

का अनुरोध करने के बदले अपने पिता से कहा—"दार जी, संगीत जी से कहिए, गाना सुनायें। बहुत अच्छा गाते हैं ये।"

निमिष भर के लिए मेरी निगाहें तीरथराम की ओर उठीं। मैं उसकी दृष्टि का मुक़ाबला न कर सका, पर तभी मैंने अपने आपको लगभग सारी सभा की निगाहों का केन्द्र पाया।

"दार जी, कहिए न संगीत जी से गायें, ये बहुत अच्छा गाते हैं," वाणी जाकर अपने पिता से चिमट गयी।

तब तीरथराम स्तम्भ से हटा और चुपचाप बाहर निकल गया।

देवा जी ने कहा—"हमें तो मालूम ही न था कि आप गाते भी हैं, सुनाइए न कोई गाना।"

मैं कुर्सी से उठा—"जी, मैं तो बिल्कुल नहीं गाता।"

"नहीं दार जी, यह गाते हैं। मैंने अपने कानों से सुना है। परसों रात ये अपने कमरे में गा रहे थे। बड़ा ही मीठा स्वर है इनका।"

मैं सिर्फ़ वही एक गाना—दन्द मोतियाँ दे दाने—कभी-कभी गाया करता था। उसे इन सबके सामने सुनाना अपने घाव को बीच बाज़ार छेड़ने के बराबर लगा। लगा जैसे मैं अपने निजी भेद को उन सब की अपात्रता के आगे रखने जा रहा हूँ। लेकिन मैं नौकर था। वह भी नया-नया। देवा जी ने फिर अनुरोध किया। तब लगभग हकलाते हुए मैंने कहा :

"मैं कभी नहीं गाता। कम-से-कम किसी दूसरे के सामने तो नहीं। लेकिन आप लोगों का अनुरोध है तो मैं सुना देता हूँ। एक ही गाना मुझे आता है, शहरों के गुण्डे इसे गाते हैं, इसलिए मुझे और भी संकोच होता है, लेकिन इस गाने के बोल एकदम मेरे अपने निजी

बन गये हैं और अपनी ज़रूरत के मुताबिक मैंने इनमें फेर-बदल कर दिया है।"

इतना कहकर मैं गाने लगा:—

दन्द मोतियां दे दाने
मैं हस्स जान, डिग जाणगे
ओ तेरे दन्द मोतियां दे . . .
लायी ऐ नज़र किस डाढ़ी
सुफ़नियां 'च ज़हर बो दित्ता
ओ जान लायी ऐ नज़र . . .

तोड़ के प्रीताँ जानिए।
सानूं वी कोई राह दस्स जा
ओ, तोड़ के प्रीताँ . . .

प्रीतम की हँसती हुई मोतियों की वह बत्तीसी मेरी आँखों में घूम गयी और फिर धीरे-धीरे मैंने उन्हीं मोतियों को मन्द होकर अपनी आब खोते पाया . . . . मेरी सोने की वह दुनिया कैसे उजड़ गयी, क्यों उजड़ गयी . . . .और मैं करुण स्वर में चिल्ला उठा—

तेरे हत्थ की रवा आया दस्स दे,
उजाड़ मेरी सोन-दुनिया ?

गीत खत्म हो गया। मैंने वाणी को रूमाल से अपने आंसू पोंछते देखा। लेकिन मैं वहाँ नहीं रुका। मुड़ा और ड्योढ़ी से बाहर निकल गया। आवाज़ मेरी भर आयी थी। वहाँ रहता तो मैं सचमुच रो उठता।

बाहर आधा चाँद आसमान में सिमटा अपनी मटियाली चाँदनी फैला रहा था। आकाश से धरती तक छाये हलके-हलके कोहरे ने उसकी ज्योत्स्ना को और भी मन्द कर दिया था और सामने 'बनौली' के पेड़ अंधकार की मटियाली दीवार पर बड़े-बड़े धब्बे-से लग रहे थे। ग़ज़ब की सर्दी थी और देवनगर के पेड़-पौधे और रविशें जैसे सन्न होकर सर्दी में ठिठुर गयी थीं।

मेरा खयाल था कि अपनी आकुलता को तीरथराम उन रविशों पर घूम-घूम कर मिटा रहा होगा। लेकिन जब पूरे देवनगर का एक चक्कर लगाने पर भी कहीं उसका निशान न मिला तो मैं उसके कमरे में गया। दरवाज़ा बन्द था, पर कुंडी नहीं लगी थी। धीरे से मैंने उसे खोला—अन्दर मेज़ पर लैम्प जल रहा था और अपनी चारपाई पर तीरथराम औंधे मुंह लेटा हुआ था।

"तीरथराम!"

"मेरी तबीयत ठीक नहीं, संगीत! इस वक्त तुम जाओ!"

उसकी आवाज़ भर्राई हुई थी। मैंने सोचा चारपाई पर बैठकर उसकी पीठ थपथपाऊँ, उसका सिर दबाऊँ, उसके किसी काम आऊँ। लेकिन मैं जानता था, मेरी हमदर्दी उसके जले पर नमक छिड़कने के बराबर होगी। मेरा अपना मन ठीक न था, इसलिए मुझमें उसकी ज़रा-सी बात सहने की शक्ति न थी। तो भी मैंने एक बार कहा—

"कहो तो एस्प्रो लाऊँ?"

उसने जवाब नहीं दिया। उसी तरह औंधे मुंह लेटा रहा।

मैं पलटा। धीरे-से मैंने किवाड़ भेड़ दिये और मैं बाहर निकल आया।

चाँद ऊपर उठ आया था। ज्योत्स्ना ओस की तरह निःस्वन झर रही थी। कुछ ऐसा मौन चारों तरफ़ छाया था कि किसी पत्ते के हिलने या कुत्ते के भौंकने की आवाज़ भी सुनायी न दे रही थी। ड्योढ़ी खाली हो चुकी थी। देवता अपने-अपने बिस्तरों की नर्म-नर्म गर्मी में दुबक गये थे, लेकिन मैं ओवरकोट को अपने सीने से दबाये चुपचाप देवनगर की सड़कों पर घूम रहा था। जाने इस समय कोई जाग भी रहा था या नहीं ? शायद तीरथराम जाग रहा था। अपनी चारपाई पर पड़ा करवटें बदल रहा था या शायद लैम्प के आगे झुका कागज़ों पर अपने दिल का गुबार निकाल रहा था और शायद वाणी भी.....क्या वाणी जाग रही है ? जाग रही है तो क्या कर रही है ? ....शायद अपने बिस्तर पर लेटी चुपचाप छत को ताक रही है !.... .शायद उसके कान मेरी आवाज़ की ओर लगे हैं ! ....और अचानक रात के उस सन्नाटे, उस फैलते कोहरे और सिमटी चाँदनी में अचानक मैं गा उठा—दिल के सारे दर्द और गले की पूरी आवाज़ के साथ—

दन्द मोतियां दे दाने
न हस्स जान, डिग जाणगे।

लेकिन जैसे अचानक मैं गा उठा था, वैसे ही अचानक मौन हो गया। पित्तो के हँसते हुए मोती मेरी आँखों के आगे कौंध गये।

दिशाओं में मेरी आवाज़ की गूंज अभी थर्रा रही थी कि मैं मुड़ा और अपनी कोठी की ओर चल पड़ा।



वाणी, जिसे मैं केवल बारह-तेरह बरस की समझता था, वास्तव में पन्द्रह-सोलह साल की लड़की थी। छोटे क़द की पतली, दुबली, बीमार-बीमार-सी! कवि अख़तर शेरानी ने जब लिखा था—'मुझे तो कुछ इन्हीं बीमार कलियों से मुहब्बत है'—तो शायद उसी जैसी किसी लड़की को 'बीमार कली' की संज्ञा दी होगी। जब पहले दिन मैं देवनगर आया था और अपने पिता का आदेश पालने की उत्सुकता में वाणी फुदकती हुई सी अपनी छोटी बहन के साथ दरवाज़े में आ खड़ी हुई थी तो मैंने उसकी ओर ध्यान भी न दिया था। वही चाय लायी थी, लेकिन उसमें कोई भी ऐसा आकर्षण न था कि देवा जी की बातें सुनते या उन्हें अपनी बातें सुनाते समय

मेरा ध्यान उसकी ओर चला जाता। इसलिए यह ठीक ही था कि जब मैं तीरथराम की प्रेयसी की तलाश में देवनगर के घर-घर घूमा तो वाणी की ओर मेरा ध्यान भी नहीं गया। लेकिन उस शाम के बाद वह नन्हीं बीमार-सी कली अचानक मेरा ध्यान खींचने लगी।

डाइनिंग हाल में खाना मैं पहले भी खाता था और कई बार उस पाँत में भी खाता था, जिसमें देवा जी और उनका परिवार रहता। लेकिन उस घटना के बाद दूसरे दिन जब मैं दोपहर का खाना खाने गया तो अचानक मेरी आँखें अगली मेज़ों की ओर उठ गयीं, जहाँ प्रायः देवा जी आकर बैठते थे। देवा जी नहीं थे, न उनकी पत्नी थीं—शायद वे पहली पाँत में खाना खा गये थे—लेकिन दूसरे बच्चों में घिरी वाणी बैठी थी। मैंने निगाह उठायी तो मौन रूप से उसे अपनी ओर तकते पाया। नज़र मिलते ही उसने आँखें झुका लीं, लेकिन जब मैंने फिर उसकी ओर देखा तो मेरी निगाहें फिर उससे जा मिलीं।

खाना समाप्त करते-न-करते कई बार उसकी और मेरी निगाहें चार हुई, लेकिन जब खाना खत्म करके अपनी प्लेट को रसोई के बाहर नल पर रख मैं चला तो अपनी मूर्खता पर मुझे अनायास हँसी आ गयी। यह तीरथराम के दुःख का निदान करते-करते मैं स्वयं किस बीमारी में फँसता जा रहा था? और लंगर से अपने कमरे तक आते-आते मैंने तय कर लिया कि यह सब मैं तीरथराम के लिए ही छोड़ दूंगा। मैं शान्ति चाहता हूँ, जिसमें कुछ पढ़ सकूं, समझ सकूँ—यह इश्क-आशिकी— वह भी मन की इस स्थिति में—मेरे बस की बात नहीं!

मैं नहीं जानता, पित्तो जैसी सुन्दर लड़की होती तो मेरा मन क्या कहता ? क्या वैसे ही ठंडे दिल से, निष्पक्ष भाव से सोचता रह सकता ? शायद नहीं, या शायद हाँ। क्योंकि अव्वल तो पित्तो जैसी सुन्दर लड़कियाँ आम नहीं होतीं, फिर कोई वैसी सुन्दर हो भी तो वैसी समझदार होगी, इसका क्या ठिकाना है !

लेकिन उस ओर से हटा लेने पर भी मन दूसरी ओर नहीं लगा। क्षण भर बाद फिर सोचने लगा कि वाणी मेरी ओर क्यों खिची ? मैं तो उसके घर भी ज़्यादा नहीं गया। कहीं ऐसी जगह नहीं बैठा जहाँ वह भी हो। तो क्या रात की तन्हाइयों में मेरे वे दर्द भरे बोल ही उसके खिचाव का कारण न थे ? शायद हों, पर मैं जानता था कि मेरी सूरत को भी उसमें कम दखल नहीं। तीरथराम मेरे पतले-छरहरे शरीर पर चाहे हँसे, लेकिन मेरी पत्नी बेतरह इस पर फ़िदा थी—किन्तु पत्नियाँ तो मोटे, बेडौल पतियों पर भी मरती हैं—जाने भी, अनजाने भी, वश से भी, विवशता से भी। पर पित्तो की सहेलियाँ ....जब वे आती थीं, उनकी आँखों में सदा पित्तो के लिए ईर्ष्या का भाव रहता था।

मैं सीधा कमरे में गया और जाकर शीशे के सामने खड़ा हो गया। वही गहरी, भूरी-भूरी आँखें, पतले-पतले ओंठ, गोरा रंग, ज़रा-ज़रा से धँसे कल्ले और छोटी-छोटी दाढ़ी और मूछें, जिन्हें मैंने बड़े जतन से बैठा रखा था। कितनी ही देर तक मैं विमुग्ध-सा अपनी सूरत देखता रहा। फिर अचानक मैंने सिर से पगड़ी उतार कर चारपाई पर फेंक दी। मेरे सुनहरे बालों का जूड़ा धूप में चमक उठा। माथे पर पगड़ी के कारण एक निशान बन गया था। दो-चार बार मैंने उसे मला। सिक्ख यदि नंगे सिर हों और बाल सजे-सँवरे न हों

तो उतने अच्छे नहीं लगते। दाढ़ी-मूंछें भी सभी को नहीं सुहातीं, लेकिन मेरे गोरे रंग और तीखे नाक-नक्शे पर सब कुछ अच्छा लगता था। मुंह पर, माथे पर और सिर पर दोनों हाथ फेरते हुए मैंने लम्बी साँस भरी, ज़ोर की अँगड़ाई ली और चारपाई पर जा लेटा। इस लड़की ने एक ही निगाह से मुझे कैसी परेशानी में डाल दिया था......?

लेकिन मैं अपने फ़ैसले पर अडिग रहा। रात मैं सबसे अंतिम पाँत में खाना खाने बैठा, वह भी उस जगह, जहाँ गैस की रोशनी कम जाती थी।

इसके बाद लगातार तीसरी पाँत में जाने लगा और सबसे अंत में बैठने लगा। किन्तु शाम को कोठियों के सामने की अपेक्षाकृत पक्की सड़क पर या बाग़ की रविशों पर अनायास वाणी मेरे सामने पड़ जाती। मैं निगाहें झुका लेता या दूसरी ओर देखने लगता। अपने ध्यान को उधर से हटाने के लिए मैंने काम की मात्रा बढ़ा दी—देवा-जी की आठ-दस कहानियाँ उलथा कर डालीं। उन कहानियों को पढ़ते और उनका अनुवाद करते हुए सहसा एक बात मुझ पर स्पष्ट हो गयी। कई दिन से मैं सोचता आ रहा था कि इस ज़रा-सी लड़की ने इस उम्र में इन आँखों से देखना, इन मीठे शब्दों में बोलना, इस मनमोहक ढंग से मुस्कराना कहाँ से सीख लिया? देववाणी की फ़ाइलें पढ़ते-पढ़ते यह राज़ मुझपर खुल गया—वाणी ने अपने पिता की कहानियों से यह सब सीखा था। देवा जी ने बीसियों दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक लेख लिखे थे—ऐसी पुरअसर, प्रभावमयी, प्रवहमान भाषा और शैली में कि उनसे मतभेद रखने वाला भी

प्रभावित हुए बिना न रहता। लेकिन इन लेखों के अतिरिक्त उन्होंने बीस-तीस कहानियाँ भी लिखी थीं। अति भावुक, रोमानी आदर्श-प्रेम से ओत-प्रोत ! . . . . . . .आज इतने वर्षों के बाद भी मैं मानता हूँ कि देवा जी की लेखनी में अपूर्व आकर्षण था। उनमें शब्दों के सही चुनाव और नाज़ुक भावों को व्यक्त करने की, अपने पाठक को अपने साथ आदर्श-प्रेम के ऊँचे, वायवी वातावरण में उठा ले जाने की, उसके पाँव धरती से उखेड़ देने की, अपूर्व प्रतिभा थी। हिन्दी शब्दों की क्लिष्टता के कोने रेत कर, उन्होंने पंजाबी में उन्हें ऐसे मिला दिया था कि उस भाषा में अपूर्व मिठास आ गयी थी। उनके नायक अपनी नायिकाओं को सदा बड़े मीठे शब्दों में बुलाते थे—बल्लिए, चन्निएं, सोहनिएं, गोरिए—और जब वे प्रेम की भावना से अभिभूत होते थे तब बड़े प्यार और सत्कार के साथ केवल उनका हाथ चूमते थे और प्रायः जब अपने आदर्श या कर्त्तव्य से प्रेरित हो (अपनी प्रेमिका के प्रियजनों अथवा अपने माता-पिता के दुख या विरोध के कारण) अपनी प्रेमिका से विवाह-सम्बन्ध न कर पाते थे तो आजीवन कुँआरे रहकर अपनी कुँआरी मुहब्बत की रक्षा करते थे। देवा जी की उन कहानियों का प्रेम निराला था—यथार्थ से कहीं दूर, भावना के सहारे जीवन के सागर में तैरने और कभी ग़ोते न खाने वाला अभिन्न, अडिग, अडोल प्रेम !

वाणी ने छुटपन से ये कहानियाँ पढ़ी थीं और तभी से उसने उस प्रेम के सपने देखे थे। उन्हीं कहानियों की नायिकाओं से उसने देखना, बोलना, हृदय की भावनाओं को आँखों में भरना और अपने सामने बैठे व्यक्ति के हृदय में अपनी दृष्टि को उतार देना सीखा था।

'इस लड़की ने ज़रूर कभी तीरथराम को जाने-अनजाने अपनी इन आँखों से देखा है और उसके हृदय में (जो शरीर की लम्बाई-चौड़ाई के बावजूद कवि-सुलभ-सुकोमल है) ऐसा मीठा घाव कर दिया है कि वह उसे सब की आँखों से छिपाये पाल रहा है', मैंने सोचा ......यह अजीब बात है कि बड़े दिन की उस शाम के बाद तीरथराम ने मेरे यहाँ आना बिल्कुल बन्द कर दिया था। दूसरे ही दिन सुबह मैं उसके यहाँ गया था, लेकिन वह उससे भी पहले कदाचित नदी की सैर को निकल गया था। देवनगर के उत्तर-पूर्व में एक बड़ा रजवहा था। सब उसे नहर कहते थे। तीरथराम देवनगर की रविशों पर घूमने के बदले सुबह-शाम रजवहे पर घूमता, गीत बुनता और शायद लम्बी साँसें भरता। न जाने उस नदी तट के वीराने में उसकी कितनी गर्म साँसें आवारा घूम रही थीं? एक दिन सुबह वह मुझे मिल गया। मैं दूध पीने किचन को जा रहा था। "आओ चलें" —मैंने उसे आमंत्रण दिया।

"मैंने दूध पीना छोड़ दिया है।"

"क्यों?"

"बड़ा मोटा हो रहा था। और आजकल ज़माना पतले-छरहरों का है।" और लम्बी साँस को दबाते तथा मेरी ओर कुछ अजीब व्यंग्य-भरी दृष्टि से देखते हुए वह चला गया।

बेचारा तीरथराम! .....लेकिन उसकी बेचारगी पर विचार करते हुए सहसा मुझे अपनी स्थिति बड़ी अजीब सी लगी। यदि तीरथराम को वाणी से मुहब्बत न होती और वाणी ने कभी उसकी ओर देखा न होता, तो वह यों अचानक मेरे यहाँ आना न छोड़ देता। कहीं ऐसा तो नहीं कि तीरथराम और वाणी में थोड़ा—चाहे दृष्टि-

विनिमय अथवा मुस्कानों के आदान-प्रदान तक सीमित—प्रेम हो, और तीरथराम को पहले ही इसका आभास हो गया हो कि वाणी मेरी ओर खिंची है। हो सकता है वाणी ने उससे मेरे बारे में कुछ पूछा हो और इसीलए सारे देवनगरियों में वही मुझसे चिमटा रहता हो। मेरे शरीर के छरहरेपन या मेरे बालों की बंगालिनों सी लम्बाई या मेरे ओठों के औरतों-के-से कट को लेकर उसके मज़ाक करने की तह में क्या उसका अपने आपको यह तसल्ली देना तो न था कि वाणी उसके इस हृष्ट-पुष्ट, कसरती, सुगठित शरीर को तज कर मुझ जैसे पतले-से 'सिखड़े' की ओर आकर्षित नहीं हो सकती। और जब बड़े-दिन के उस उत्सव की रात को उसने देख लिया कि वाणी मेरी ओर आकर्षित है तो उसने अचानक मेरे यहाँ आना छोड़ दिया।

मेरे बारे में देवनगर में जो तरह-तरह की बातें उड़ गयी थीं, क्या उसमें तीरथराम ही का तो हाथ न था? ......और यह खयाल आते ही मेरे मुंह का ज़ायका कड़ुवा हो गया। कब दूध पी गया, वह मीठा था, फीका था, गर्म था या ठंडा था, इसका कुछ ध्यान नहीं रहा। सुबह को सर्दी में डाइनिंग-हाल के बराण्डे में, धूप की ओर पीठ किये, गर्म दूध पीना, चिलगोज़े या मूंगफली गटकना मुझे बड़ा प्रिय था। लेकिन उस दिन लगा जैसे अनुभूति की सारी शक्तियाँ उस चिन्ता के आगे बेकार हो गयी हैं। गिलास को किचन के बाहर नल के आगे फेंक कर मैं चला तो तीरथराम की कई ऐसी बातें जिनकी ओर मैंने ध्यान न दिया था, नये रूप में मेरे सामने आयीं और मैं परेशान हो उठा। लेकिन कमरे में पहुँच कर मैंने बरबस अपने मन को उधर से हटाया और देवा जी ने जो नये लेख दिये थे, उनमें से एक के

अनुवाद में निमग्न हो गया। एक-दो बार मन भटका, लेकिन फिर देवा जी की लेखनी के प्रवाह में वह चला......

"जो सुख छज्जू दे चौबारे
ओह न बल्ख न बुखारे"

प्रसिद्ध पंजाबी सूफ़ी कवि छज्जू के बोल से लेख शुरू करके देवा जी ने लिखा था :

"बल्ख और बुखारे में क्यों छज्जू को अपने चौबारे जैसा सुख नहीं मिलता ? क्योंकि बल्ख या बुखारे में छज्जू या ग़ुलाम होगा या मेहमान, पर अपने चौबारे में उसका अपना राज है ! इस चौबारे में बल्ख के ग़ालीचे नहीं और न बुखारे की मेहमान-नवाजियाँ हैं, पर इसमें छज्जू जब चाहे आ सकता है, जिस दीवार पर चाहे खूटियाँ गाड़ सकता है और जिस खिड़की में से चाहे झाँक सकता है। उसे इस चौबारे की कुंजी किसी से लेनी नहीं और न इसमें रहने के लिए किसी का आभार मानना है।

"अंग्रेज कहता है, तुम्हारा चौबारा ठीक नहीं, मैं इसे ईंट-पत्थर का नहीं, संगमरमर का बनाकर तुम्हें दूंगा, इसे डाकुओं का डर है, मैं न रहा तो तुम लुट जाओगे—मैं इसे मज़बूत बनाकर तुम्हें सौंपूंगा। हम कहते हैं कि महाराज, जीर्ण तो जर्जर तो जैसा भी है, यह हमें पसन्द है, हम इसे लेकर रहेंगे। आक्रमणकारियों का खतरा है, हम उसे सह लेंगे, आपको इसकी चिन्ता क्यों हो ? घने जंगलों में क्या वहाँ के पशुओं को भूख या बाघ का डर नहीं होता, पर क्या वे अपने अरक्षित स्थानों को छोड़कर आपके भरे-पुरे

सुरक्षित स्थान पसन्द करते हैं? कोई बड़े से बड़ी पनाह भी पराधीनता को सुखकर नहीं बना देती। इंसान की आत्मा जन्म तक का बन्धन स्वीकार नहीं करती। उसकी अन्तिम माँग मुक्ति है।"

इस तरह स्वराज्य की जरूरत बताते हुए देवा जी ने उन आन्दोलनों का उल्लेख किया था जो देश की नर्म या गर्म पार्टियाँ देश में चला रही थीं और लिखा था कि आज़ादी के स्वर्ण-मृग ने उनका अपना मन भी मोह रखा है, वे भी देश को आजाद और खुशहाल देखना चाहते हैं, लेकिन उनका रास्ता दूसरा है। कांग्रेस और गर्मदल अपने-अपने आन्दोलन चलायें, लेकिन स्वयं वे समझते हैं कि देशवासी अभी स्वराज्य के योग्य नहीं और उनको इसके योग्य बनाने का काम भी उतना ही अहम है जितना स्वराज्य प्राप्त करने का।

"पोलिटिकल आन्दोलन भी चलते रहें," उन्होंने लिखा था, "पर एक ग्रुप आज़ादी के ऐसे दीवानों का भी होना चाहिए जो अपने भाइयों में जाकर उन्नति का संदेश दें; उनकी ज़िन्दगी को सँवारें; सरल-साहित्य प्रकाशित करें; भ्रम दूर करें; भाई को भाई से अलग करने वाले धर्म की जगह सच्चे, शाश्वत और साझे ईश्वरीय धर्म का प्रचार करें। हमारी बीमारियाँ अगनित हैं—बुरी रस्में, अशिक्षा साम्प्रदायिकता, पक्का हो जाने वाला दास-स्वभाव, बेसमझ जातियाँ, चारदीवारी में बन्द निकम्मी करके बैठा दी गयी स्त्रियाँ, बेपरवाही का शिकार रुलने-बिलखने वाले बच्चे—यह लिस्ट बड़ी लम्बी है, लेकिन हमें काम में जुट जाना है और जितनी भी बुराइयाँ हम दूर कर सकें, करके देशवासियों को आज़ादी के योग्य बनाना है। याद रखिए कि आप बड़े बुद्धिमान हों या आपका धन अपार हो, आप निर्भीक हों या व्यक्तिगतरूप से स्वतन्त्र, पर जब तक आपके

इर्द-गिर्द भूख, नंग, अशिक्षा और ग़रीबी है, आप कभी सुखी नहीं रह सकते......"

और मेरे सामने देवनगर के रूप में देवा जी का सपना घूम गया। सच ही उन्होंने अपने आदर्श के अनुसार देवनगर को बनाया था—खुली-खुली फ़िज़ा, खुले-खुले एक-दूसरे की सहायता, एक दूसरे के प्रोत्साहन को लालायित वासी। औरतों को किचन की गुलामी से उन्होंने नजात दिला दी थी। वे अपने समय को उपादेय कामों में लगा सकती थीं, आज़ादी से हँस-बोल सकती थीं। बच्चों के लिए वे प्रैक्टिकल स्कूल खोलने जा रहे थे, जहाँ बच्चे अपनी रुचि के अनुसार अमली शिक्षा पायें। जहाँ से शिक्षा पाकर वे निकलें, तो इस विभाग या उस विभाग, इस व्यवसाय या उस व्यवसाय में ठोकरें खाने के बदले, किसी तरह की दुविधा या उलझन के बिना अपने मन-चाहे विभाग या व्यवसाय में जगह पायें और देश के जीवन को बिगाड़ने के बदले उसे सजायें, सँवारें और समृद्ध बनायें। स्कूल की नींव पड़ चुकी थी और नये साल ही से देवा जी उसे चालू कर देने की सोच रहे थे।

......उन लेखों को पढ़ते-पढ़ते देवनगर मुझे कल्पना की स्वप्निल घाटियों में उड़ते-उड़ते धरती पर उतर कर रम जाने वाले स्वप्न सरीखा लगा—जब देश आज़ाद होगा तो हर सूबे में ऐसे बीसियों नगर-उपनगर बस जायेंगे और ज़िन्दगी खुली कुशादा, स्वच्छ और संस्कृत होगी।

खाने की घंटी दो बार बज चुकी थी, पर मैं काम में ऐसा रत था कि नहीं उठा। तीसरी और अंतिम पाँत की घंटी जब बजी तो मैं

उठा। दिमाग़ में अभी तक देवा जी के शब्द गूंज रहे थे। एक वृद्ध को जो देवमण्डल में आना चाहता था, पर अपने बुढ़ापे से डरता था उन्होंने लिखा था—

"देवमण्डल सच ही जवानों का मण्डल है, पर जवानी सिर्फ़ छोटी उम्र का नाम नहीं। जवानी उस मानसिक अवस्था का नाम है, जिसमें से नवीनता की चाह खत्म न हो गयी हो। काले बालों की कोई शर्त नहीं, पर गर्म लहू की शर्त ज़रूर है। ठंडा लहू इस मण्डल में हरकत न कर सकेगा। न क़दम मिला सकेगा न चल सकेगा। खतरों से निडरता, होनहार से मिलने का उत्साह, धन की उपेक्षा, शारीरिक सुखों की ओर से लापरवाही, चिन्ताहीनता, हवाई किलों में विश्वास, सपनों से प्रेम, उल्लसित मन और मुस्कराते ओठ— देवमंडल के साथ चलने की पहली शर्त है......"

और मुझे लगा जैसे मेरी नसों में नया— एकदम गर्म लहू दौड़ने लगा है, मेरा व्यक्तिगत दुख क्षण भर को उस गर्म खून की रवानी में बहने लगा है और मैं देवा जी के साथ ही सपने देखने लगा हूँ, क़दम से क़दम मिला कर चलने लगा हूँ......

......सामने से तीरथराम आ रहा था—दोनों हाथों को बगलों में दिये, सिर झुकाये, जाने किन चिन्ताओं में लीन! 'इसके मन का उल्लास कहाँ गया? देवनगर की इस खुली फ़िज़ा में यह क्यों अपने आप में सिकुड़ गया है?' मैंने मन ही मन कहा और जब वह मेरे पास से गुज़रा तो मैंने अपने उल्लास में पुकारा—"सत श्री अकाल तीरथ भाई।"

वह रुका और जैसे कहीं बहुत दूर से उसने मेरे अभिवादन का उत्तर दिया।

"किस सोच में ग़र्क़ हो? किधर रहते हो? तुम्हारे यहाँ जाता हूँ तो मिलते नहीं, मेरे यहाँ आते नहीं।" मैं अपने उल्लास में पूछ गया।

"इधर कुछ मेहमान ज़्यादा आ गये हैं, उन्हीं की आव-भगत में लगा रहता हूँ। आऊँगा।"

और उसने क़दम बढ़ाया। लेकिन मेरे उल्लास का जोश उस एक ही ठंडे छींटे से क्या बैठता। मैंने मुड़कर पूछा—"कविताएँ कैसी चल रही हैं आजकल?"

"लिख रहा हूँ, सुना दूँगा।"

इस बार तीरथराम ने मुड़ना भी उचित नहीं समझा। गहरे-गम्भीर, उमड़े-घिरे बादल सरीखा वह बढ़ता चला गया।

देवा जी के लेखों के आकाशीय सपनों में विचरता मेरा मन, इंजन खराब हो जाने वाले हवाई जहाज़-ऐसा तेज़ी से धरती की ओर गिर चला।

लेकिन किसी बड़े ही कुशल चालक की तरह मैंने उसे रोक लिया। 'देवा जी ने तो कहा था कि तीरथराम को लोग पसन्द नहीं करते।' मैंने सोचा—'शायद वह इस खुली फ़िज़ा में पनप नहीं पा रहा है, इसीलिए घुटा-घुटा रहता है। वाणी अपने पिता की प्रेरणा से बढ़ रही है। उसे घर की चारदीवारी में बन्द रहकर निकम्मी नहीं हो रहना—वह, स्वच्छन्द वातावरण में तितली-सी उड़ेगी और जब बड़ी होगी तो न जाने बड़ी लेखिका बने, कलाकार बने, गायिका बने, क्या बने! उसे किसी दूसरे की ओर आँख उठाकर भी देखते हुए यह तन कर बैठ गया है, घुट कर रह गया है। न जाने इसके मन में मेरे लिए कितना क्रोध है......और यह देवनगर में एक बड़े

खुले, विशाल, विराट और पावन जीवन का सपना लेकर आया है......' और मैं तीरथराम के मन की संकुलता पर मन ही मन हंसा......

सामने किचन की ओर से देवा जी खाना खाकर अपनी पत्नी के साथ आ रहे थे। डचोढ़ी से जो रविश डाइनिंग हाल को जाती थी, उसमें देवा जी की कोठी से घूमकर आनेवाली एक दूसरी पगडण्डी मिल जाती थी। देवा जी प्रायः इसी से आते-जाते थे। दूर से हाथ जोड़ कर मैंने दोनों को 'नमस्कार' किया। आदत तो मेरी 'सत श्री अकाल' कहने की ही थी, पर देवा जी की पत्नी 'नमस्कार' ही पसन्द करती थीं। मेरे निकट पहुँचने से पहले ही वे मुड़ गये। मधु तो थी, पर वाणी उनके साथ न थी। मैंने सामने डाइनिंग हाल की ओर देखा। दूसरी पाँत वाले लगभग जा चुके थे, तीसरी पाँत वाले हमाम के नल से हाथ धोकर अन्दर जा रहे थे। वाणी वहीं मधवार साहब की लड़की श्यामा के साथ खड़ी बातें कर रही थी। मैं गुज़रा तो बातें करते-करते उसने मेरी ओर देखा। मैंने निगाह नहीं हटायी, बल्कि आँखों से अभिवादन करते हुए मैं मुस्करा दिया। वाणी का चेहरा एकदम खिल गया और श्यामा से उसकी बातें और भी सरगर्मी से होने लगीं। नल से हाथ धोकर उनके पास से निकला तो फिर एक उड़ती नज़र उसने मेरी ओर डाली और जैसे श्यामा की बात के उत्तर में मुस्करायी।

मैं खाने के कमरे में गया। तीसरी पाँत में प्रायः नौकरपेशा लोग, प्रेस के ऐसे कर्मचारी जिनके घर खाना न पकता था और लेट-लतीफ़ किस्म के दैवसैनिक आते थे। मैंने पैंटरी से अपनी थाली, कटोरी ली और कोने में अपनी मेज़ पर जा बैठा। सावित्री और जीत

परस रही थीं। मेरी मेज़ पर प्रेस के मैनेजर आ बैठे थे। मैं उनसे बातें करने लगा। सावित्री जब दाल का डोंगा लेकर आयी तो मैंने सिर उठाया—दिल धक्क से रह गया। मेरी आँखों के सामने अगली पंक्ति की मेज़ पर वाणी बैठी थी। इस तरह कि मैं सिर उठाऊँ तो अनायास वह सामने पड़ जाय। शायद वह बाहर खड़ी मेरी ही राह देख रही थी। इतने दिन से शायद वह चुपचाप मेरी गति-विधि निरख रही थी। मेरे बैठने के बाद ही शायद वह उस मेज़ पर बैठी थी। इतने दिन मुझे भी आये हुए हो गये थे, मैंने उसे कभी इस पाँत में खाना खाते न देखा था।

लेकिन मैं घबराया नहीं। मैंने तय कर लिया कि यह चोरी-छिपे देखने की बात देवनगर के सिद्धांतों के विरुद्ध है। वाणी से क्यों न मैं खुल जाऊँ ताकि मेरे बारे में उसकी सारी जिज्ञासा, सारी उत्सुकता मिट जाय और वह अपने ध्यान को दूसरे उपादेय कामों में लगाये। देवा जी ही के एक लेख में मैंने पढ़ा था कि निम्न-मध्य-वर्ग का प्रेम इसलिए दबा, घुटा और बीमार रहता है कि लड़के-लड़कियों में खुली बात तो दूर रही, दृष्टि-विनिमय तक वर्जित है। लड़कियाँ लड़के खुले रूप से मिलें-जुलें तो बहुत से युवा-युवतियाँ जो दूर से अच्छे लगते हैं, मिलने-जुलने पर बेकार साबित हों और प्रेम अच्छी और स्थायी बुनियादों पर क़ायम हो! इसलिए क्यों न मैं इस लड़की से मिलकर बता दूं कि मैं इसके योग्य नहीं। (मन में मैंने सोचा कि वह मेरे योग्य नहीं!)

खाना खाने के बाद थाली लेकर जब मैं बाहर निकला तो कुछ इस तरह हुआ कि वाणी और मैं लगभग एक साथ नल पर पहुँचे।

में थाली रखकर हमाम की टोंटी के नीचे हाथ धोने जा ही रहा था कि वाणी थाली रखकर आ गयी। मैं पीछे हट गया कि वह पहले हाथ धो ले। तभी मेरी नज़र सामने डयोढ़ी की ओर चली गयी। तीरथराम उसी तरह हाथ बगल में दवाये घूम रहा था। उसकी निगाह हमारी ओर थी, पर मुझे देखते ही वह सिर झुकाकर मुड़ गया।

बड़े मीठे स्वर में 'थैंक यू' कहते हुए वाणी हाथ धोने लगी। साबुन मलते और हाथ धोते हुए उसने अपनी चंचल पर गहरी दृष्टि मुझ पर डाली और ज़रा-सा मुस्कराते हुए बोली—"आप उस दिन गाते ही बाहर क्यों चले गये थे?"

हाथ धोकर वह पीछे हट गयी और रूमाल से उन्हें पोंछने लगी। मैं हाथ धोने लगा। इस बीच लगातार मैं उसके प्रश्न का उत्तर सोचता रहा।

"बताइए न संगीत जी?" उसने फिर आग्रह के साथ कहा।

हाथ धोकर मैं चलने लगा—उसी तरह असमंजस में पड़ा—तब वह भी मेरे साथ बढ़ी।

"मैं तुम्हें क्या बताऊँ," मैंने कहा, "वे बोल बीते दिनों की कुछ ऐसी याद ताज़ा कर देते हैं कि मन अनायास भर-सा आता है। दिल के घाव को दूसरे के सामने छेड़ना यों भी कोई अच्छी बात नहीं। छेड़ दिया तो उसके रिसने को लगातार उनकी आँखों में रखना उनके और अपने साथ ज़ुल्म करना है।"

मैं चुप हो गया और हम मौन चलने लगे। तभी वह मोड़ आ गया, जहाँ से देवा जी की कोठी को रास्ता जाता था। लेकिन वह उधर को नहीं मुड़ी।

"अच्छा तो वाणी, मैं फिर शाम को आऊँगी, नमस्ते!"

हम मुड़े। देखा—श्यामा हमारे पीछे-पीछे आ रही है।

वाणी चौंकी। लेकिन तत्काल अपनी उन्हीं बड़ी-बड़ी प्यारी गहरी आँखों में उसको डुबाते हुए बोली—"अच्छा आना!"

वह रुकी नहीं, मेरे साथ चलती रही।

कुछ पग चलने पर उसने कहा—"मैंने आप पर नाहक उस दिन गाने के लिए इतना ज़ोर दिया। आपका दिल दुख जायगा, यह जानती तो कभी ऐसा न करती।"

यह कहते-कहते उसने एक अपराधी-दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसका नन्हा-सा मुख पीला-सा हो गया और आँखों में पछतावा भर आया।

उसके उस मुख में कवियों द्वारा वर्णित कोई भी गुण न था, लेकिन उस पीले-सफ़ेद, पश्चात्ताप-भरे नन्हें-से चेहरे और उन करुणाभरी आँखों को देखते हुए मन को कुछ होने-सा लगा।

मैंने कहा—"तुम्हें कैसे मालूम होता। मैंने तो कभी किसी से कुछ कहा ही नहीं। फिर गीत के बोलों में तो दर्द नहीं। इसका पहला बोल तो मैं कई बार खुशी की चरम-सीमा पर पहुँच कर गाया करता था।"

और अपने किसी आत्मीय की तरह मैं उस लड़की को अपने जीवन की वह सारी दुख-गाथा सुना गया—कैसे जब मेरी बीवी हँसा करती थी और उसके दाँतों के मोती जगमगाने लगते थे, मैं मस्त होकर गा उठता था—"तेरे दन्द मोतियाँ दे दाने, हस्सदी दे डिग जाणगे—" फिर किस तरह उन्हीं जगमगाते दाँतों को मैंने मौत के अँधेरे में क़ब्र के बुझते दियों की तरह टिमटिमाते देखा

और फिर कैसे उनकी वह अन्तिम लौ मेरे सीने में सदा के लिए घाव कर गयी। और उस बोल ने, जो ख़ुशी के किसी अल्हड़ क्षण की यादगार था, एक करुण रूप धर लिया। वे ही बोल जिनको गाते हुए मैं एकदम मतवाला हो उठता, ख़ून के आँसू रुलाने लगे। गाते हुए मैंने उनमें कुछ और पद जोड़ दिये। मैं गवैया नहीं, न किसी ने (मेरी बीवी के सिवा) मेरे गाने की कभी खास तारीफ़ ही की है, लेकिन जब कभी रात को नींद नहीं आती और मेरी कल्पना पिछले कुछ वर्षों की ऊँची-नीची घाटियों में भटकती फिरती है तो मैं ये टप्पे गाता हूँ। जाने कैसे, जाने क्यों, दो-एक बार इनको गाने के बाद मुझे अजीब सी शान्ति मिल जाती है और मेरे पलक झप आते हैं।

हम जाकर डयोढ़ी में एक बेंच पर बैठ गये थे और मैं उसे अपनी कहानी सुनाता रहा था। वाणी का मुख मेरी बात सुनते-सुनते एकदम सफ़ेद हो गया और उसकी आँखें न जाने कैसी बड़ी-बड़ी सी हो आयीं। क्षण भर मैं उसकी ओर देखता रहा। जाने उस नन्हें से सफ़ेद मुख को देखते-देखते जी को कैसा कुछ होने लगा। लेकिन इससे पहले कि कुछ होता मैं उठा और डयोढ़ी के चमकते रंगीन फ़र्श पर अपने जूतों की आवाज़ करता हुआ घूमने लगा।

सहसा मेरी निगाह सामने के बड़े दरवाज़े के बाहर रविश पर घूमते हुए तीरथराम पर गयी। कनखियों से उसने हमारी ओर देखा और फिर सिर झुकाये वह चलता गया। मन सहसा एक अजीब वितृष्णा से भर आया। जब हम किचन के बाहर खड़े थे तो मैंने उसे डयोढ़ी के दरवाज़े पर रुके अपनी ओर निगाहें गड़ाये पाया था। झुँझलाहट हुई कि क्या इस देवनगर में भी वही उबा देने वाली

आदिम तिकोन हमें बाँध लेगी जो फ़िल्मों से लेकर उपन्यासों और कहानियों तक में नायक-नायिकाओं को बाँधती आयी है ? और क्या मैं भी उस तिकोन का एक कोण बनकर रह जाऊँगा ? 'लेकिन नहीं, मैं इस तिकोन को तोड़कर निकल जाऊँगा', मैंने झुंझलाकर मन में कहा और जिस आकुलता के अधीन मैं बेंच से उठकर उस बड़े मेहराबदार दरवाज़े तक बढ़ आया था, उसी के अधीन मैं फिर मुड़ा।......

वाणी मेरा रास्ता रोके खड़ी थी। वह अपनी जगह से उठ आयी थी।

"क्यों संगीत जी, आपकी पत्नी का देहान्त कब हुआ ?" मेरे मन की अवस्था से नितान्त अनभिज्ञ, मेरे जीवन की ट्रेजेडी ही में उलझे हुए, बड़े भोलेपन से उसने पूछा।

तीरथराम को जासूसों की तरह अपनी गति-विधि पर निगाह रखते हुए देखकर मेरे मन में जो क्रोध उठा था, उसने मुझे जहाँ पहुँचा दिया था, वहाँ से फिर वाणी के साथ बात शुरू करने की नीचाई तक उतरना मेरे लिए एकदम असम्भव हो गया। मैं बिना उत्तर दिये उसके पास से निकलकर ड्योढ़ी के दूसरे दरवाज़े तक गया। इस बीच में मैंने अपने आपको संयत कर लिया। वाणी मेरे पास पहुँची तो मैंने कहा—"यही चार एक महीने हुए हैं। मेरे यहाँ आने से एक महीना पहले !"

हम बाहर निकल आये। तीरथराम घूमकर सामने डाइनिंग-हाल को जाने वाली रविश पर हो गया।

"जभी आप इतने उदास-उदास, खोये-खोये रहते हैं," तीरथराम की ओर ध्यान दिये बिना वाणी ने बड़े हमदर्द-स्वर में कहा, "आप

हमारे यहाँ आया कीजिए। रेडियो सुना कीजिए, चलिए, आज सहगल के गाने होने वाले हैं, आपको सुनवायें।"

मैं अनुवाद के लिए लेख या कहानी लेने या अनुवाद की हुई चीज़ें देने के सिलसिले में एक-आध बार ही देवा जी के पास गया था— वह भी उनके दफ्तर में। उनके घर बस वही पहले दिन गया था। फिर नहीं गया। ज़रूरत ही नहीं पड़ी। एक-आध वार कोठी से गुज़रते समय देवा जी की पत्नी से 'नमस्कार' का आदान-प्रदान हुआ और बस।

वाणी के साथ-साथ जब मैं कोठी पर पहुँचा तो देवा जी के कमरे से रेडियो पर सहगल के गाने की आवाज़ आ रही थी— 'झूलना झुलाओ......' बरामदे में वाणी की माँ खड़ी अपने नौकर धीरसिंह से जूतों पर पालिश करा रही थीं। बिल्कुल ऐसा लगता था जैसे बूट-पालिश का नहीं, किसी सैनिक मोर्चे का निरीक्षण कर रही हों।

"श्यामा किधर है?" उन्होंने वाणी से पूछा।

"फिर आने को कह गयी है। आज सहगल के गाने हो रहे हैं दिल्ली से, संगीत जी को बड़ा शौक है गाने का, मैं इन्हें ले आयी।"

उन्होंने मेरी ओर निगाह उठायी और मैंने एक क़दम बढ़कर कहा—"नमस्ते, माँजी!"

"माँजी!" वाणी की माँ ने क्रोध और आश्चर्य की एक दृष्टि मुझपर डाली। "क्या मैं इतनी बूढ़ी हूँ कि माँजी कहलाऊँ?"

क्रोध और हँसी—दोनों ही भाव बिजली की एक दूसरी को काटती-सी लहरों के समान मेरे दिमाग़ में कौंध गये। मैं अपनी माँ

को, जो शायद उम्र में उन देवी जी से दो-एक साल ही छोटी होंगी, स्नेह से माँजी कहता था और तब से कहता आया था जब उनकी उम्र बीस-पच्चीस वर्ष की रही होगी।

"मुझे यहाँ सब माता जी कहते हैं," उन्होंने कहा।

"जी, मैं तो अपनी माता जी को भी माँजी ही कहता हूँ।"

लेकिन उन्होंने यह नहीं सुना और धीरसिंह को साबुन से ब्रश धोकर धूप में रखने का आदेश दिया।

उनका पहलू काटकर वाणी देवा जी के कमरे की ओर बढ़ी और उसने मुझे भी अपने पीछे आने का संकेत किया।

अन्दर कमरे में देवा जी रेडियो के पास लम्बे कौच पर आराम से लेटे थे। पैर उनके निकट की तिपाई पर टिके थे, आँखें बन्द थीं और सहगल का गीत श्रवणों में अनवरत मधु घोल रहा था।

हमारे जाने पर उन्होंने आँखें खोलीं। वाणी ने वही बात दुहरा दी। उन्होंने पास के कौच की ओर संकेत किया और पूर्ववत् आँखें बन्द कर लीं।

तभी दूसरा गीत शुरू हुआ—

"सुनो-सुनो रे कृषण काला"

और जैसे उसके साथ ही दिल की धड़कन तेज़ हो गयी। मैं न कृष्ण का भक्त, न रास-लीलाओं का क़ायल। गुरु नानक की वाणी और दसवें पादशाह के आदेशों में विश्वास रखने वाला, अपनी हलकी-सी नास्तिकता के बावजूद पाँचों ककारों (कच्छ, कड़ा, केश, कृपाण, कंघा) को धारण करने में कभी चूक न करने वाला—

कृष्णलीला मेरे लिए कोई कशिश न रखती थी, पर न जाने क्यों, जब भी लय, लोच, करुणा और मधु से भरे सहगल के गहरे, भरे कांपते-से स्वर में "सुनो-सुनो रे कृषण काला" सुनता तो जाने मुझे क्या हो जाता। मैं बाज़ार में जाता-जाता रुक जाता और बिना पूरा गीत सुने आगे न बढ़ता। एक बार मैंने इसके बोल भी लिखे थे। कागज़ पर लिखे उन बोलों में न वह रस था, न जादू! 'सुनो-सुनो रे कृषण काला' लिखी हुई यह पंक्ति अच्छी न लगती थी। 'रे' की जगह 'ओ' और 'काला' की जगह 'काले' होता तो शायद मेरे पंजाबी कानों को वह बोल अच्छा लगता, लेकिन सहगल के मुंह से चार छः बार सुनकर अब यही अच्छा लगने लगा था। गाना चल रहा था।

'कहे राधा भी मोहे कलंकिनी
कहे राधा भी मोहे......

गीत में कलंकिनी शब्द....लेकिन उस मधु-घुले स्वर में यह इतना अच्छा लगता था कि जी होता, वह शब्द बार-बार दुहराया जाये। उसे सुनते-सुनते मन न अघाता था।

और फिर वह तान—वह लरज़ती, कांपती, हृदय को बेधती हुई वह तान—

चंडीदास कहे—सखि हे
जिस तन लागे वह तन यह दुखड़ा जाने।

गीत चलता गया और मन चाहता गया कि वह क्षण, वह तान, वह सोज़, वह कम्प थम जाय। सहगल गाता रहे और मैं सुनता रहूँ।

पर गीत तो समाप्त हो गया। हाँ, उसका जादू फ़िज़ा में छाया रहा। नहीं जानता कोई गाना मुझे कभी इतना अच्छा लगा होगा, स्वयं भी सहगल ने कोई गीत इतना अच्छा गाया होगा! तभी सुना, रेडियो बोल रहा था—

"हम लाहौर से बोल रहे हैं। अब हमारा तालीमी प्रोग्राम शुरू होता है।"

देवा जी ने रेडियो का स्विच घुमा दिया।

मैं उठा, उसी तरह मन्त्र-मुग्ध!

"क्यों!" वाणी ने ओठों में पूछा।

"गाने तो शायद......" कुछ अस्फुट सा मेरे ओठों से निकला।

"दार जी, दिल्ली ही लगा दो! अभी सहगल के गाने हो रहे हैं।" मेरी बात पूरी सुने बिना वह अपने पिता से लगभग चिमट गयी। मैं ठिठका खड़ा रहा।

"यह एक ज़रूरी टॉक (वार्ता) हो रही है।"

"दार जी दिल्ली ही लगा दो!" और वाणी मचल कर उनसे और भी चिमट गयी।

देवा जी के मस्तक पर क्षीण से तेवर बन गये। उन्होंने एक ऐसी दृष्टि मुझ पर डाली जिसमें हलकी-सी चिढ़चिढ़ाहट और विवशता थी। फिर सयत्न उस पर संयम पाकर उन्होंने रेडियो का स्विच घुमा दिया और सहसा सहगल का वही मीठा लरज़ता स्वर कमरे में गूंज उठा। और वाणी के ज़ोर देने पर कुछ अजीब सी खिन्नता और प्रसन्नता मन में लिये हुए मैं बैठ गया।

———



यह मान लेने में मुझे कुछ भी संकोच नहीं कि उन चार महीनों में देवनगर से मुझे बेहद प्यार हो गया था। वहाँ वाणी थी और उसकी मुग्ध-चकित आँखों में मेरे लिए अपार स्नेह और सहनुभूति थी, या वहाँ देवा जी थे, जो मेरे संतप्त मन को शान्ति प्रदान करते थे, या फिर देवनगर-वासियों में वैसी सहृदयता, स्नेह और प्यार था, जैसा कहीं और देखने में नहीं आता— नहीं इनमें से कोई बात न थी। वाणी के उस स्नेह और सहानुभूति ने मेरी उस अस्थायी शान्ति को, जो देवनगर के उन पहले दिनों में मुझे प्राप्त हुई थी, एक अजीब सी बेचैनी में बदल दिया था। देवा जी के लेखों की बड़ी-बड़ी बातें भी मेरे मन के सागर पर तैरती हुई वृन्तहीन

कमलिनियों-सी बहने लगी थीं। और देवनगर के वासी !—जैसे-जैसे मैं उन्हें जानता गया, मुझे लगता गया कि ऊपर से नज़र आने वाली मुस्कानों और प्रकट सुनायी देने वाले प्रेम और परस्पर प्रोत्साहन के दावों के नीचे वही ईर्ष्या-द्वेष का विष छिपा हुआ है। लेकिन देवनगर के आस-पास की सुन्दरता, उन देहाती सुबहों और शामों का वह सोने, गुलाब और केसर से घुला हुआ लावण्य, नदी-तट का वह एकांत, करीर की उन ठिगनी भरी-पुरी झाड़ियों के फूलों की वह जलते अंगारों-की-सी लाली—सब मेरे मन को कुछ इस तरह बाँधे था कि जब दिमाग़ कहता, 'मैंने देवनगर आकर ग़लती की' तो मन वहाँ से जाने के विचार-मात्र से उदास हो जाता।

देवनगर में मेरा रह पाना कठिन है, यह विचार अचानक उस दोपहर को पहले-पहल मेरे मन में कौंधा, जब वाणी रेडियो सुनाने के बहाने मुझे अपने घर ले गयी थी—उसकी माँ ने 'माँजी' कहने पर मुझे डाँट दिया था और वाणी ने सहगल के गाने फिर से लगाने को अपने पिता से अनुरोध किया था तो अपनी लड़की के उस तरह ज़ोर देने पर देवा जी ने यद्यपि रेडियो का स्विच घुमा दिया था, पर मेरी ओर देखते हुए उनके माथे पर चिढ़चिढ़ाहट भरे तेवर बन गये थे—और देवनगर के उस खुलेपन के ऊपर पड़ने वाले दबाव और उस प्रकट विशालता के अन्तर में छिपी संकीर्णता की एक झलक मुझे मिल गयी थी।

देवा जी के यहाँ मैं फिर न गया था। यह ठीक है कि वाणी डाइनिंग हाल में ज़रूर उसी मेज़ पर बैठती—उसी कुर्सी पर जहाँ से वह मेरी ओर देख सके और कोशिश करती कि मेरे उठते ही उठे, पर मैंने उस दिन जैसा अवसर फिर न आने दिया था। शाम को

कोठियों के सामने की सड़क पर टहलना छोड़कर मैं नदी-तट पर जाने लगा था और सच्ची बात तो यह है कि नदी-तट की वे अकेली सैरें देवनगर की सुखद-तम स्मृतियों में से हैं।

पित्तो की मौत के बाद शहर की भीड़-भाड़ में मेरा दम घुटने लगा था। असल में पित्तो के जिन्दा रहते मुझे नगर के उस शोर-शराबे और भीड़-भब्भड़ का कभी अहसास न हुआ था। उस सारे शोर के ऊपर जैसे पित्तो की प्यारी-प्यारी बातें मेरे कानों में गूँजती रहती थीं और वह सारी भीड़ पित्तो की सूरत के आगे एकदम लुप्त हो जाती थी। दफ़्तर में काम करते, मित्र-शत्रुओं, अफ़सरों या चपरासियों से बातें करते हुए भी आँखें उसको देखती रहती थीं। दो-चार बच्चे हो जाते तो सम्भव है कि नोन, तेल, लकड़ी और कपड़े की यथार्थता विवाह के उन शुरू के वर्षों की व्यामोहावस्था को भंग कर देती, लेकिन तीन वर्षों के उन तीन पल बन कर बीत जाने वाले दिनों के सहचर्य के बाद, जब वह मीठी आवाज और वह मन-मोहक सूरत मौत के हाथों क्षीण और विकृत होकर चली गयी तो लगा कि जैसे शहर का शोर मेरे कानों के पर्दे फाड़ रहा है और भीड़ मेरा गला घोंटे दे रही है। देवनगर के उन वीरानों का वह मौन मुझे इतना अच्छा लगता कि कभी-कभी जी चाहता उसी में विलीन हो जाऊँ, घुल जाऊँ, शरीर को छोड़कर उसके कण-कण में समा जाऊँ।

कभी नहर भरी होती। पुल के पास पानी क़यामत का शोर करता। पर मील भर आगे वह ऐसे बहता कि बहता दिखायी न देता। मैं पैर नीचे पसार कर उसके किनारे बैठ जाता। पेड़ों के साये लहरों के बहाव पर तिरते हुए काँपते और मैं मुग्ध-सा देखता। तभी पश्चिम

का सूरज आकाश के वादलों को गुलाबी कर देता और वह रंग लहरों पर चमक उठता।

कभी नहर का पानी वन्द होता। रेतीला तल साँझ के अँधेरे में चमकता तो मैं नीचे उतर जाता। ठंडी रेत पर भागता चला जाता। कभी किनारे पर बैठे-बैठे गाने लगता अथवा भेड़-वकरियों के रेवड़ को इस पार से उस पार जाते हुए देखता। अगली भेड़ें जिधर को जातीं, शेष सव भी उन्हीं के पीछे उधर ही को चल पड़तीं और कभी अगली भेड़ों को ग़लत रास्ते पर चलते देखकर गड़रिये कान पकड़-पकड़ कर उन्हें ठीक मार्ग पर चलाते। डंडे से पीट देते तो वे "वा... वा" करती हुई भागतीं।

लेकिन कुछ दिन वाद मुझे नहर की सैर छोड़नी पड़ी और वे रंगीन, अकेली उदास-उदास शामें अपनी ख़ूवसूरती के साथ केवल मेरी स्मृति की संगिनी वनकर रह गयीं।

शाम का वक़्त था। नहर पर पहुँचा तो पश्चिम में सूरज डूब रहा था। सर्दी सरे-शाम ही उतर आयी थी और मैं ओवरकोट पहने था। तभी पश्चिम की ओर आँखें उठाते ही दिल की धड़कन जैसे थम गयी। कितना अकथ, कितना सुन्दर दृश्य था! दूर, वहुत दूर खजूर के एकाकी पेड़ के पीछे, जो उस निर्जन के सूनेपन को चुनौती देता हुआ-सा खड़ा था, सूरज डूव रहा था। वड़ा-वड़ा और पीला-पीला—पेड़ का ऊपर का सिरा ऐसे लग रहा था जैसे उस पीली कुंदनी थाली पर अंकित हो। नहर के पानियों पर सूरज का बिम्व, ऊपर आकाश के हलके श्वेत वादलों पर उसका रंग, उस रंग से रंजित

दूर तक फैली नहर की पटरी और अकेला मैं.....कुछ दूर चल कर बैठ गया और अचानक गाने लगा। वही अपना चिर-परिचित गीत—'दंद मोतियाँ दे दाने' नहीं, सहगल के मधुमय स्वर में सुना वह कृष्ण के प्रेम में पागल गोपी का गीत, जो जरूर ही अल्हड़ रही होगी, छोटी उम्र की होगी। गीत विरह का था। पर जाने क्यों मुझे करुण नहीं लगा। मन की उमंग में जैसे उस प्राकृतिक सौन्दर्य और सुनसान को भरता हुआ मैं गा उठा—

सुनो सुनो रे कृषण काला
सुनो सुनो रे कृषण काला

तभी कहीं निकट ठहाके की आवाज़ आयी—सूने में सहसा बज उठने वाली घंटियों सरीखी युवा-लड़कियों के ठहाके की आवाज़। मैं चौंक उठा। पटरी पर वाणी, श्यामा और मधु न जाने किस बात पर हँसती-हँसती दोहरी होती जा रही थीं। साथ उनके अठारह-बीस वर्ष का एक युवक था।

उन्हें गुज़रने के लिए राह देने को मैं एक ओर हट गया। पर चारों की टोली मेरे पास आकर रुक गयी।

"दिलजीत, यह हैं संगीत जी, बड़ा ही अच्छा गाते हैं।" अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को फैलाते और शब्दों के साथ झूमते हुए वाणी ने अपने साथी युवक को मेरा परिचय दिया और फिर मुझसे बोली—"यह है दिलजीत, मेरा भाई, गवर्नमेण्ट कालेज में पढ़ता है, छुट्टियों में आया है।"

क्षण भर में वाणी की उन एकदम फैल जाने वाली बड़ी-बड़ी आँखों को और 'बड़ा ही अच्छा गाते हैं' कहते हुए दोनों ओर झूल

जाने को देखता रहा। कहना चाहता था—दिलजीत तो तुम्हारा नाम होना चाहिए था, 'वाणी'...यह भी कोई नाम है ?—लेकिन मैंने कुछ नहीं कहा, सिर्फ़ मुस्करा कर हाथ बढ़ा दिया।

"आप तो आगे जा रहे होंगे," हाथ मिलाते, मुस्कराते और कन्नी काटकर निकलने को पैर बढ़ाते हुए मैंने कहा।

"हम भी मुड़ रहे हैं," मुड़ते और अपनी दोनों सहेलियों को साथ ही मोड़ते हुए वाणी बोली।

कुछ क्षण हम चुपचाप चलते रहे। तभी सामने तीरथराम आता दिखायी दिया।

"आओ भई तीरथराम," पास आने पर मैंने उससे कहा।

"नहीं, आप लोग चलिए। मैं अभी आगे जाऊँगा।"

हम चले। तभी सहसा दिलजीत ने वाणी से कहा—"संगीत जी से गाना ही सुनवाओ।"

वाणी क्या उत्तर देती ! उसने मेरी ओर देखा। उसकी आँखें फैल गयीं और चेहरा उदास हो गया। वे आँखें जैसे कह रही थीं—मैं जानती हूँ, आपको दुःख होगा, मैं कैसे अनुरोध करूँ, पर मेरा वीर कह रहा है। काश आप गा सकते !

और मैं गाने लगा।......

लेकिन दूसरे दिन से मैंने नहर पर जाना छोड़ दिया। सर्दियों की शाम समय से पहले उतर आती। दिनभर काम करता। शाम को जी कमरे में बैठने को न होता। सड़क पर घूमना पहले छोड़ चुका था, अब नहर पर जाना भी छोड़ दिया तो सवाल सामने आया कि आखिर शाम को कहाँ जायें ? तब मैंने शाम को नन्दलाल के यहाँ

जाना शुरू कर दिया। सारे घरों में नन्दलाल के यहाँ जाना मुझे क्यों पसन्द आया? शायद इसलिए कि वही एक घर था, जिसमें मुझे सचमुच खुला व्यवहार मिला। सावित्री ने जो एक वार मुझे 'आओ भरा जी*' कहा तो फिर सदा वहनों—वह भी वड़ी वहनों—का-सा व्यवहार दिया। शाम को जब मैं वहाँ जाता तो वह सदा स्टोव जलाकर चाय वना देती। यदि मुझे चाय के समय पहुँचने में देर हो जाती तो वह नन्दलाल को भेज देती। समय काटने और कुछ उस कृतज्ञता के बोझ को हलका करने के विचार से मैं उसे अंग्रेजी पढ़ाने लगा था। भरा-पुरा परिवार। किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं। लवालव भरे तालाव के किनारे पहुँचने का-सा आभास वहाँ मिलता और मन होता कि इस तालाव के किनारे वृक्षों की छाया में कुछ पल सुस्ता लिया जाय! देवनगर के रेगिस्तान में नन्दलाल का घर मेरा शाद्वल वन गया।

लेकिन मुझे और सावित्री को—और यों मुझे और नन्दलाल को—निकट लाने वाली एक दूसरी चीज़ थी—देवनगर की माता जी (देवा जी की पत्नी) के प्रति गहरी नफ़रत! सावित्री, उसका पति और मैं, वाणी की माँ की नजरों में कोई ऊँचा दर्जा न रखते थे। अपने प्रति उनकी भावना का पता मुझे सिर्फ़ उसी दिन न चला था, वल्कि वाद में मुझे देखते ही उनके माथे पर जो तेवर पड़ जाते थे, उन्होंने भी मेरे उस संदेह को विश्वास में वदल दिया था। सावित्री की बातों से भी पता चल गया था कि उन्हें भी माताजी कुछ उतना अच्छा नहीं समझतीं।

---

* 'आइए, भाई साहव!'

माता जी आरोड़ा वंश से सम्बन्ध रखती थीं। एक मध्यवर्गीय व्यापारी की वे लड़की थीं। देवा जी रुड़की पास कर जब इंजीनियर हुए तो उनके मकान का एक हिस्सा किराये पर लेकर रहने लगे थे। वहीं उनमें प्यार हो गया। यद्यपि देवा जी को बड़े-बड़े घरों से रिश्ते आते थे और वे व्यापारी महोदय अपनी लड़की का विवाह एक सिक्ख युवक से करने को कदापि तैयार न थे, तो भी देवा जी ने सब बाधाओं को पार कर, उनसे विवाह कर लिया था। सावित्री का कहना था कि माता जी ही के प्रभाव से देवा जी ने दाढ़ी और बाल कटवा दिये थे और माता जी ही के कारण उन्होंने लड़कियों के नाम वाणी और मधु रखे थे। "देवा जी जब कभी दिलजीत के साथ अकेले होते हैं, तो प्यार से उसे दिलजीतसिंह कहते हैं," सावित्री ने एक दिन बताया, "माता जी उसे सदैव दिलजीत कुमार कहकर पुकारती हैं।"..... हालांकि यह बात उसे अच्छी लगनी चाहिए थी, पर लगता था सावित्री को इस बात का दुख है कि देवा जी ने बाल क्यों कटवाये या क्यों उन्होंने लड़के-लड़कियों के नाम हिन्दुआना रखे। जैसे देवा जी पर उनकी पत्नी के आधिपत्य से उसे चिढ़ थी।

"देवा जी तो बड़े भले आदमी हैं—बड़े-बड़े आदर्शों के सपने लेनेवाले, लेकिन यह माता जी उन्हें सदा उसी कीचड़ में ला घसीटती हैं, जहाँ से वे उठकर उड़ना चाहते हैं।" एक दिन सावित्री ने मुझसे कहा, "देवा जी ने देवनगर बसाया कि वे दुनिया के सामने एक ऐसा आदर्श नगर प्रस्तुत कर सकें, जहाँ इन्सान-इन्सान में अन्तर न हो। न छूतछात हो, न घृणा-द्वेष हो, न रू-रियायत, न ख़ुशामद और चापलूसी हो! लोग खुले और स्वच्छ वातावरण में ऊँचे आदर्शों के लिए काम करें। अगर देवा जी की चलती तो शायद सचमुच ऐसा

नगर बस जाता। लेकिन यहाँ चलती तो माता जी की है और उन्हें जो सुबह उठकर 'नमस्ते' न करे, दिन में दो-एक बार जाकर उनके दरबार में हाज़िरी न दे, वे उनकी दुश्मन बन जाती हैं।"

उसने यह भी बताया कि आठ सैनिक इसी कारण त्यागपत्र देकर जा चुके हैं। उनकी जगह देवा जी ने इन्हीं माता जी के कहने पर अपने रिश्तेदार भर लिये हैं। देवनगर 'देववाणी' के ग्राहकों और देवमण्डल के मेम्बरों के धन से बना है, पर माता जी अपने आपको इसकी एकछत्र साम्राज्ञी समझती हैं। "इस समय भी हम, मघवार साहब और कुलबीरसिंह उनकी आँख में खटकते हैं," सावित्री बोली, "हममें से किसी को भी न लल्लो-पत्तो आती है, न खुशामद सुहाती है। यहाँ वही रह सकता है जो इन सब में दक्ष हो। सो वे हमसे नाराज हैं और वह जन्म-जन्म का भूखा तीरथराम सारा दिन वहीं चिमटा रहता है। इतना बड़ा स्कैंडल हो गया लेकिन ......"

"स्कैंडल ?" मैंने हैरानी से पूछा।

"हाँ, आपके आने के कुछ ही दिन पहले यहाँ देवनगर का वार्षिक सम्मेलन हुआ था। उसमें देवा जी का लिखा नाटक 'राजकुमारी वीरा' खेला गया। तीरथराम राजा बना था और वाणी राजकुमारी। उस नाटक के बाद ही वाणी और तीरथराम को लेकर कई तरह की बातें होने लगीं। अच्छा खासा स्कैंडल हो गया। सबने बड़ा बुरा माना। उसे सेना से निकालने का प्रस्ताव भी रखा गया। लेकिन वह जाकर माता जी के चरणों पर गिर पड़ा कि वाणी तो मेरी लड़की-जैसी है। मैंने बच्ची समझ उसे गोद में ले लिया था। और माता जी के कहने से देवा जी ने वह प्रस्ताव नहीं पास होने दिया।"

कुछ क्षण हम दोनों चुप बैठे रहे। फिर सावित्री बोली—"और तभी से तीरथराम किसी दूसरे घर में ज्यादा आता-जाता नहीं। न जाने उसकी आंखों में कैसा नदीदापन है, कोई उसे पसन्द नहीं करता, बस माता जी की खुशामद में लगा रहता है या भूत-प्रेतों की तरह यहाँ की सड़कों पर घूमता रहता है।"

लेकिन तीरथराम वहाँ अपनी निन्दा की धार कुन्द करने के लिए ही न बना रहता था। उसका उद्देश्य माता जी और देवा जी को मेरे विरुद्ध भड़का कर वाणी के हितचिन्तक के रूप में अपनी खोयी प्रतिष्ठा भी पाना था।

मुझे मघवार साहब से इस बात का पता चला। नन्दलाल से मैंने कुलवीरसिंह और मघवार साहब की इतनी प्रशंसा सुनी थी कि देवा जी, माता जी और कुछ दूसरे देवसैनिकों की उपेक्षा मोल लेते हुए भी मैं मघवार साहब के यहाँ आने-जाने लगा था। नन्दलाल के घर आते-जाते मैं जान गया था कि देवसैनिकों में, जो ऊपर से सेना के सिपाहियों की तरह एक-जैसे लगते हैं, वास्तव में धीरे-धीरे एक खाई बन रही है। दो पार्टियाँ हो गयी हैं। एक का बहुमत है और दूसरी का अल्पमत। बहुमत में देवा जी और उनके चापलूस शामिल हैं जो देवसेना के सिद्धान्तों का नहीं, देवा जी अथवा देवी जी की (नन्दलाल मज़ाक से माता जी को देवी जी कहा करता था) इच्छाओं का ध्यान रखते हैं। अल्पमत में वे सैनिक हैं जो देवमण्डल के सिद्धान्तों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और मघवार साहब इस अल्पमत के नेता हैं।

एक दिन मैं उनसे मिलने गया तो वे फट पड़े, "बड़े-बड़े इरादे और बड़ी-बड़ी उम्मीदें लेकर हम देवमण्डल के मेम्बर बने थे, धन-मान का लालच हमें नहीं था। हम तीनों अच्छी नौकरियों पर लगे थे। लेकिन अपनी कम-से-कम निजी ज़रूरतों से एकदम निश्चिन्त होकर ऊँचे आदर्शों के लिए जीवन को लगा देना और ऐसे वायुमण्डल में साँस लेना, जहाँ सहृदय साथियों की संगति हमारे दिलों को कुशादा और व्यक्तित्व को मज़बूत बनाये— इसी आदर्श ने हमें खींचा था। लेकिन यहाँ साल भर गुज़ारने के बाद लगता है कि इस नगर का बाहर चाहे सुन्दर सही, पर इसकी आत्मा वैसी ही तंग, सीली और गन्दी है।"

"आत्मा की बात तो मैं नहीं कहता," मैंने कहा, "मेरा यहाँ के वासियों से कुछ वैसा वास्ता भी नहीं, पर इसका बाहर तो बड़ा सुन्दर और स्वच्छ है।"

"तभी तो पड़े हैं," वे बोले थे, "नहीं तो कभी के चले जाते, 'देववाणी' के लेख पढ़कर हम समझते थे कि देवाजी बड़े पैमाने पर सैनिक चाहते हैं, जो देश ही नहीं, संसार भर में चरित्र-निर्माण का आदर्श रखेंगे; मानव-मानव को समझने में सहायता देंगे; दिमागों का कूड़ा-कचरा हटाकर उनमें नयी रोशनी का प्रकाश भर देंगे, लेकिन देखता हूँ, ऐसा कुछ नहीं होगा। हो सकता है इस वीराने में हम एक बड़ा नगर बसाने में सफल हो जायें, जहाँ नयी-दिल्ली के ऐश-आराम मयस्सर हों, लेकिन वे आदर्श जिन्हें सामने रखकर यह नगर बसाना शुरू किया गया था, शायद इसकी नींवों ही में दफ़न हो जायेंगे।"

मघवार साहब लम्बे-ऊँचे आदमी थे। पैंतालिस-पचास वर्ष की उम्र, गोरे-चिट्टे, लेकिन सुन्दर उन्हें नहीं कहा जा सकता। उनका

माथा बहुत छोटा था। सिर के बाल यद्यपि वे पीछे को सँवारते थे, तो भी तीन-चार अंगुल से अधिक माथा न निकलता था। तीखी नाक, उभरे कल्ले, लम्बा क़द और घुंघराले, पीछे को बने हुए, खिचड़ी बाल। तन पर कमीज़ के साथ धोती। उनके चेहरे पर कुछ संन्यासियों की-सी रुखाई थी। उनके पिता के पास कालटैक्स की एजेन्सी थी। उन्होंने कमाया भी बहुत था। बड़े भाई के साथ वे भी काम देखें, ऐसी उनके पिता की इच्छा थी, पर मघवार साहब १६२१ के आंदोलन में जो एक बार जेल गये तो सत्य की खोज करते हुए कई आश्रमों से होकर देवनगर आ पहुँचे। देवसेना के हिसाब-किताब की देख-रेख उनके ज़िम्मे थी, जिसमें कुलबीरसिंह उनके साथ हाथ बँटाता था। जिन्दगी की अनगिनत ठोकरें खाने और एक-के बाद दूसरी नौकरी करने के बावजूद अब भी उनके अन्तर की आग वैसी ही जल रही थी। अब भी वे वैसे ही आदर्शवादी, आशावादी और उत्साही थे। कहीं समझौता नहीं, कहीं असत्य नहीं, सुख-दुख से लापरवाह होकर वे जो मार्ग चुनते, उस पर बढ़े जाते। पर कोरे आदर्श, कवि की कल्पना में हों तो हों, दुनियादार की कल्पना में नहीं। फूल तक पहुँचने के लिए काँटों से हाथ नहीं बचाये जा सकते। काँटों से हाथ छलनी हो जायँ, इसकी परवाह मघवार साहब को न थी, पर जहाँ फूल की इच्छा ही धुंधली हुई, अथवा आदर्श के रंग में रंगे फूल की जगह काग़ज़ी फूल से गुलदान सजाने का आदर्श बना, उन्होंने संस्था छोड़ी। वे आदर्श-पुष्प की खोज में एक के बाद दूसरी संस्था को छोड़ते चले आये थे।

मघवार साहब से मिलने के बाद उनके प्रति ऐसी ही धारणा मेरे मन में बनी। "अच्छे सैनिकों को, कार्यकर्ताओं को ये नहीं चाहते," मघवार साहब ने कहा था, "अपनी ही बात लीजिए। आप आये थे

तो स्वयं देवा जी ने आपके काम और स्वभाव की प्रशंसा की थी, पर अभी जनरल मीटिंग में आपके विरुद्ध प्रस्ताव आया है।"

"मेरे?"

"हाँ तीरथराम और हरमोहन ने रखा है।"

"मेरे विरुद्ध क्या शिकायत है?"

"यही कि आप देवमण्डल की आज़ाद फ़िज़ा के योग्य नहीं, अपने में बन्द रहते हैं, देवमण्डल की सरगर्मियों में भाग नहीं लेते।"

"फिर क्या तय हुआ?"

"देवा जी ने उस प्रस्ताव को फिर कभी विचार करने के लिए स्थगित कर दिया। स्थगित तो कर दिया, लेकिन लगता है कि आपसे वे प्रसन्न नहीं। शायद आपने उनके यहाँ कम हाज़िरी दी है, या आपसे उनकी पत्नी नाखुश हैं। देखिए, यदि आपको यहाँ रहना है तो आपको माता जी, हरमोहनसिंह, तीरथराम, सुदर्शनसिंह आदि से बनाकर रखनी चाहिए। नन्दलाल या हमसे वे ऐसे खुश नहीं।"

मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा था। तीरथराम क्यों नाराज़ है, यह मैं अब जान गया था, लेकिन उसकी शिकायत को दूर कर देना मेरे बस की बात न थी। रहीं माता जी, जाने क्यों उन्हें 'नमस्कार' करना भी मुझे अरुचिकर लगता था। उस नारी का अहम् मुझे बड़ा छोटा, बड़ा थोथा लगता था। नौकरों के क्वार्टरों में एक दिन मैं प्रेस के फ़ोरमैन-मैनेजर सन्तोखसिंह के पास बैठा था कि माता जी की बात चल पड़ी।

"माता जी को तो थापा ने ठीक उत्तर दिया था," सन्तोखसिंह ने कहा।

"थापा ने, थापा कौन?"

"रामा थापा।"

"चौकीदार?"

"हाँ-हाँ! माता जी यहाँ के सब देवसैनिकों और मुलाज़िमों को अपना व्यक्तिगत नौकर समझती हैं," सन्तोखसिंह ने कहा, "और आशा करती हैं कि जब भी वे उनके सामने पड़ें, उन्हें नमस्कार करें— एक बार नहीं, जितनी बार भी मिलें। चाहते देवा जी भी यही हैं, पर उनका ढंग दूसरा है। यदि कोई सैनिक या नौकर उन्हें 'नमस्कार' न करे तो वे सदा उसे पहले 'नमस्कार' करते हैं, बार-बार उसे 'नमस्कार' करते हैं, यहाँ तक कि वह उन्हें देखते ही हाथ जोड़ देता है। लेकिन माता जी को यदि कोई 'नमस्कार' न करे तो उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं। सैनिकों अथवा बड़े नौकरों से तो वे कुछ नहीं कहतीं, पर छोटों को डाँट देती हैं। रामा थापा को एक दिन उन्होंने डाँट दिया कि तू अपने-आपको नवाब समझता है, सलाम नहीं करता। "हम काम का नौकर है, सलाम का नहीं।" थापा पटाख-से बोला और तबसे माता जी चुप रहती हैं, पर जो उन्हें 'नमस्कार' नहीं करता, उसके विरुद्ध हो जाती हैं। उन्होंने तो रामा थापा को निकलवाने की बड़ी कोशिश की। कई बार आधी-आधी रात को जासूस छोड़े कि देखें वह सोता तो नहीं, पर वह सैनिक-नियंत्रण में पला आदमी, सदा मुस्तैद रहा। एक बार महीने की छुट्टी पर गया तो उन्होंने एक सिक्ख जवान को रखा। उसी महीने दो चोरियाँ हो गयीं। थापा अब भी कभी माता जी को 'नमस्कार' नहीं करता, लेकिन जब तक उसकी रगों में जान और हाथ में बन्दूक है, वह यहाँ रहेगा।"

रामा थापा की इस बात का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उस दिन से मैंने माता जी को 'नमस्कार' करना छोड़ दिया। वे देवा जी के साथ होतीं तो मैं दोनों को एक साथ 'नमस्कार' कर देता, पर यदि वे अकेली सामने पड़ जातीं तो बिना उधर देखे, आंखें झुकाये अथवा दूसरी ओर लगाये मैं गुज़र जाता। रहा हरमोहनसिंह, सो इधर तीरथराम उसके साथ हर वक्त चिपका रहता था। हरमोहन के सच्चे ठहाके (क्योंकि प्रायः वह तीरथराम से मज़ाक़ किया करता) और तीरथराम के खोखले अट्टहास (क्योंकि वह हरमोहन को प्रसन्न करने के लिए हँसता) भी यदा-कदा सुनायी दे जाते। और मुझे हरमोहन से मिलने और उस मुलाक़ात को सन्निकटता से बदलने में बड़ा संकोच होता।

हरमोहनसिंह खासा सुन्दर व्यक्ति था। मँझला क़द, गोरा रंग, दहकते हुए गाल और स्वस्थ शरीर! पर वह लगभग अनपढ़ था। सदा भोंडे मज़ाक करता था और क्योंकि दूर के रिश्ते में वह देवा जी का भतीजा लगता था और डेयरी उसके अधीन थी, इसलिए उसकी स्थिति इस साम्राज्य के सूबेदार से कम न थी। वैसा ही उसका दिमाग़ था। रही उसकी सरदरानी, सो जितना हरमोहन सुन्दर था, उतनी ही वह कुरूपा थी। क़द में हरमोहन से एक-डेढ़ बित्ता लम्बी, उतनी ही मोटी, बड़े-बड़े बाहर को निकले दाँत और चुंधी आँखें। दिन के किसी समय भी देखो, लगता जैसे अभी सोकर उठी है। एक-दो बार मैं गया भी, पर समझ ही न आयी कि उन देवी जी से क्या बात की जाय? सो हरमोहन से भी रास्ता बढ़ाना कठिन था। मघवार साहब की बात तो मेरे दिमाग़ में गूंज ही रही थी। सो मैंने तय किया कि यदि ये लोग नहीं चाहते तो मैं यहाँ क्यों रहूँ? क्यों न

में वापस शहर चला जाऊँ। अव्वल तो इस वातावरण से शहर का वातावरण बुरा नहीं, फिर यदि वहाँ मन न लगा तो गांधी आश्रम चला जाऊँगा। रुपये की तो उतनी चिन्ता नहीं, वह काम न रहा तो कोई दूसरा कर लूंगा।

पर जब मैंने तय किया और मैं देवा जी से मिलने चला तो हठात मेरा मन उदास हो गया। देवनगर के उन वीरानों का शांत सौन्दर्य सहसा मुझे चारों ओर से बाँधने लगा। बरसात के बाद की रंगीन शामें और सुबहें, चांदनी रातों का जादू और अँधेरी रातों का सन्नाटा और फिर शिशिर के धुंधियाले आकाश पर सूरज की पीली-पीली धूप और ओस से भीगी सुबह-शाम की पगडंडियाँ—उन्हें छोड़कर फिर उसी भीड़-भब्बड़ में जाने को जी न चाहता था। लेकिन मैं जानता था कि यदि मैं अपमान सहता हुआ यहाँ रहूँगा तो यह सब सौन्दर्य मुझे काट खाने को आयगा और मेरी रातों की नींदें हराम हो जायेंगी......और मैं देवा जी से मिलने के लिए चल पड़ा।

देवा जी उस समय गुम्बद में बैठे थे। गुम्बद के दरवाजे पर पर्दा पड़ा था। नीचे फ़र्श पर टाट, उस पर दरी, उस पर ग़ालीचा और उस पर कौच ! मैंने पर्दा ज़रा-सा हटाकर देखा। देवा जी अपनी कुर्सी पर सीधे बैठे लिखने में व्यस्त थे। मथवार साहब ने मुझे उनके लेखों के प्यारे-प्यारे मानव-वाद के स्रोत का भी पता बता दिया था। वे प्रायः 'रीडर्स डाइजेस्ट' से लेख अनुवाद कर 'देववाणी' में देते थे। 'डेल कार्नेगी' भी उन्हें पसन्द था, जिसने मित्रों, पड़ोसियों तथा समाज को जीतने की मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ बतायीं हैं।

बड़ी-बड़ी आँखें

पर्दा छोड़कर मैं क्षण भर वहीं रुका रहा। देवा जी के ड्राइंग-रूम अथवा आफ़िस में जाने में मुझे बड़ा संकोच होता था। माता जी को सफ़ाई की सनक थी, घर के काम में हाथ बटाने को नौकर था। वे दिन का अधिक भाग कमरों, दरवाज़ों, कपड़ों, ब्रशों— इस या उस चीज़ की सफ़ाई में लगी रहती थीं। देवा जी के आफ़िस की सफ़ाई तो वे दो बार स्वयं अपने हाथों से करती थीं। दरी पर यदि कोई जूता ले जाता था तो उनके माथे पर बल पड़ जाते थे। एक बार देवा जी से पत्थरचट्टी के नम्बरदार मिलने आये थे। उन्होंने जूते बाहर उतार दिये थे, तो भी उनके पाँवों के निशान दरी पर बन गये। इस बात को लेकर माता जी महीनों उनका मज़ाक उड़ाती रहीं। कुछ इन्हीं कारणों से मुझे वहाँ बैठने में बड़ी उलझन होती थी।

आखिर आगे बढ़कर मैंने पर्दा उठाया और जूते उतारते हुए अन्दर आने की आज्ञा चाही।

देवा जी ने मेरी ओर देखा। शायद वे अत्यधिक व्यस्त थे। उनके माथे पर हलकी-सी रेखाएँ बन गयीं। पर मैं जूते उतार कर अन्दर बढ़ गया था। मेरे चेहरे पर अवश्य ही अन्तर के क्रोध और निश्चय की झलक होगी। उनके माथे से तेवर मिट गये और एक बड़ी ही प्यारी मुस्कान उनके ओठों पर फैल गयी।

"आइए, कैसे आये?"

क्षण भर मैं चुप खड़ा रहा। भाव कुछ ऐसे ज़ोर मार रहे थे कि अपने क्रोध या क्षोभ को व्यक्त कर पाना कठिन हो रहा था।

"बैठिए, बैठिए।"

मैं बैठ गया।

"कहिए कैसे आये?"

"मेरे विरुद्ध कोई प्रस्ताव मीटिंग में पास हुआ है," मैंने जैसे बम फेंका।

देवा जी चुप रहे और मेरी ओर देखते रहे।

"मुझे अभी पता चला है कि देवसैनिक मुझे पसन्द नहीं करते," मैं कह चला, "और मेरी उपस्थिति यहाँ अच्छी नहीं समझी जाती।"

मैं क्षण भर को रुका। देवा जी फिर भी चुप रहे।

"मैंने आपसे पहले ही दिन कारण बता दिया था कि मैं यहाँ क्यों आया हूँ। निरंजनसिंह जी ने आपकी बड़ी प्रशंसा की थी और मैं शान्ति चाहता था। काम में मैं सुस्ती नहीं करता, आपने जो काम दिया, उसे जल्द-से-जल्द और अच्छे-से-अच्छे ढंग पर निबटाने की मैंने पूरी कोशिश की है। बाक़ी यह कि मैं अपने में रहता हूँ, अहम्‌वादी या दुश्चरित्र हूँ, ये सब अभियोग ग़लत हैं। तो भी मैं आपको किसी धर्म-संकट में नहीं डालना चाहता। आप यदि मुझसे सन्तुष्ट नहीं तो मैं कल ही चला जाऊँगा।"

एक और भी प्यारी मुस्कान देवा जी के ओठों पर फैल गयी।

"हाँ, एक रेज़ोल्यूशन कमेटी के सामने आया है," वे बोले, "लेकिन रेज़ोल्यूशन आने ही से तो पास नहीं हो जाता।"

पर सैनिकों के कोप की तलवार तो मेरे सिर पर सदा लटकती रहेगी," मैंने कहा, "ऐसे वातावरण में शान्ति से कैसे काम हो सकता है?"

देवा जी की मुस्कान कुछ और फैली। "भाई आप कहीं भी जायँ, शान्ति आपको पड़ी-पड़ी नहीं मिलेगी। आपको उसे स्वयं अपनी कोशिशों से प्राप्त करना होगा। आप जंगल में भी चले जायँ, जहाँ आदमी की शकल तक नज़र न आये तो भी आपको अकंट-

शान्ति प्राप्त न होगी। प्रकृति से समझौता करके अथवा उसपर विजय पाकर आपको अपनी शान्ति पानी या जीतनी पड़ेगी। फिर इन्सानों की बस्ती में, जहाँ हर एक अपनी शान्ति के लिए संघर्ष करता है और सब की कोशिशें एक दूसरी से टकराती रहती हैं, आपको और भी प्रयत्न करना पड़ेगा।"

वे उसी प्रकार मुस्कराते हुए निमिष भर को रुके। लेकिन मैं चुप रहा और सुनता रहा।

"मैंने आपको एक दिन पहले भी कहा था कि यहाँ अठारह-बीस घर हैं। आपको सबसे मिल-जुलकर रहना पड़ेगा। नहीं तो आपका रहना कठिन हो जायगा।"

"मैंने तो कोशिश की, नन्दलाल के यहाँ मैं जाता हूँ, एक दो बार और सब के यहाँ भी गया हूँ, पर यह तो आप मानेंगे कि मैत्री इकतरफ़ा तो नहीं हो सकती। कोई मुझे चाहेगा तो मैं क्यों न चाहूँगा।"

देवा जी हलके-से हँसे। बहुत ही हलके-से। ऐसे कि उनकी हँसी कमरे के बाहर सुनायी न दे।

"यहीं तो आप ग़लती पर हैं। कोई आपको चाहे.... लेकिन इसे उलट दीजिए तो....आप किसी को चाहें तो क्या वह आपको न चाहेगा?"

निमिष भर के लिए मुझे कोई उत्तर न सूझा। फिर मैंने कहा, "लेकिन मैं तो बाहर से आया हूँ। देवमण्डल और देवनगर के लिए नया हूँ। देवनगर का तो सिद्धान्त ही प्रीति और प्यार के घेरे को बढ़ाना है। यदि देवनगर के वासी उपेक्षा और घृणा से काम लेंगे तो उनका मिशन कैसे सफल होगा। उन्हें तो हर आने वाले को अपने

घेरे में लेना चाहिए। मेरी बात छोड़िए। मैं तो बाहर से आया हूँ। यहाँ तो मैं देवमण्डल के सदस्यों में भी वह प्रीति नहीं देखता जो देवमण्डल का ध्येय है।"

मेरी बात सुनकर देवा जी के चेहरे पर हलकी-सी छाया दौड़ गयी और उनके माथे पर बड़े हलके से, चिढ़चिढ़ाहट भरे तेवर बन गये। पर दूसरे क्षण फिर वही मुस्कान उनके मुख पर खेलने लगी।

"देखो भाई," उन्होंने कहना शुरू किया, "देवनगर के वासी सचमुच तो देवनगर से आये नहीं। उन्हीं तंग, अँधेरी गलियों और मुहल्लों से आये हैं, जहाँ सारा हिन्दुस्तान बसता है। वही उपेक्षा घृणा, वही ईर्ष्या-डाह, नफ़रत-कदूरत, ख़ुशामद और बदगोई, अहम् और अहंकार उनमें भी है। एक दम वह दूर न होगा। धीरे-धीरे उसे दूर करना होगा।"

कुछ क्षण वे चुप रहे। जेब से रूमाल निकालकर उन्होंने अपने चश्मे को पोंछा, फिर वे मेज़ की ओर मुड़े और उन्होंने फाउण्टेनपेन उठा लिया।

लेकिन मैं अभी बैठा था। वे फिर मेरी ओर झुके, "आप जाइए और शान्ति के साथ काम कीजिए!" वे बोले, "कमेटी में क्या होता है, क्या नहीं होता, इसकी चिन्ता न कीजिए। सबसे मिल-जुलकर रहिए, सेना की सरगर्मियों में दिल से भाग लीजिए। आप रेडियो सुनने आने लगे थे, मैं खुश हुआ था। फिर आया कीजिए। तीरथराम आदि के साथ आप खुश नहीं, तो यहाँ चले आया कीजिए। दिलजीत आ रहा है, वाणी है, मधु है, उनके साथ खेलिए। अपने खोल से बाहर निकलिए। एक दूसरे के विरुद्ध लोग क्या कहते हैं, उसे न सुनिए, एक दूसरे की प्रशंसा में जो कहा जाता है, उसपर ध्यान

दीजिए। दोषों के बदले उनके गुण देखिए। दिल से उन्हें स्नेह देना, प्यार करना और उनके काम आना सीखिए! निश्चय ही आपको सुख भी मिलेगा और शान्ति भी।"

और वे अपने आगे रखे मसौदे को देखने लगे। मैं उठा। "मैं आपका बड़ा आभारी हूँ," मैंने कहा, "इस आश्वासन के लिए भी और इस नसीहत के लिए भी। आपकी नसीहत पर मैं चलने की कोशिश करूँगा।"

और 'नमस्कार' करके मैं बाहर निकल आया।

गुम्बद से बाहर निकला तो मेरे अन्तर का क्षोभ लगभग मिट गया था। देवा जी की बातों से पूर्णतः मेरी तसल्ली हो गयी हो, ऐसी बात न थी। मेरी दशा शिशिर के उस आकाश की-सी थी, जिसपर सुबह गहरे-काले बादल और धुंध छायी हो, लेकिन दोपहर होते-होते बादल हट जायें, धुंध छट जाय और भीनी-भीनी धूप सूर्य के अस्तित्व का परिचय दे। सामने नये बने बैडमिण्टन-कोर्ट में खेल ज़ोरों से चल रहा था और हरमोहन तथा गुरबचन में ज़ोरों की बाज़ी लगी थी। शटल-कॉक जाल के ऊपर ही ऊपर इधर-से-उधर उड़ रही थी। साथ के कोर्ट में वाणी अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी। मन हुआ कि जाऊँ, पर मेरी दृष्टि चुपचाप खड़े तीरथराम पर गयी और न जाने मन को किस अनजाने संकोच ने बाँध लिया। क्षण भर ऊपरी मुस्कान की झलक दिखाने वाले शिशिर के सूर्य पर फिर से धुंध का गहरा काला बादल छा गया!

तभी एक तांगा बीच की कोठी के पास आकर रुका और बैडमिण्टन-कोर्ट में खेल चलते देखकर खुशी की एक किलकारी

मारता हुआ दिलजीत उसमें से कूदा। माता जी अपनी कोठी के बरामदे में खड़ी शायद उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं। उसके उतरते ही वे उस ओर भागीं, लेकिन दिलजीत माँ की ओर नहीं गया, बाहों से कोट उतारता हुआ, सीधे बैडमिण्टन कोर्ट की ओर भागा।

तब चकित-हो मैंने देखा कि सारे देवनगर को अपनी जायदाद और देवनगर-वासियों को अपना गुलाम समझने वाली वह अभिमानिनी नारी एकदम दासियों की तरह आगे बढ़कर अपने बेटे का उतरता हुआ कोट थामने बढ़ी और उसका कोट लेते-लेते वह कई क़दम उसके साथ भागती चली गयी।

कोट अपनी माँ के हाथों सौंप दिलजीत रुका नहीं, वह भागता चला गया। हरमोहन ने आगे बढ़कर उसे अपना रैकेट दे दिया और गुरबचन तथा दिलजीत में खेल शुरू हो गया और शटल-कॉक और भी ज़ोरों से जाल के ऊपर उड़ने लगी।

"नाश्ता कर लो, फिर खेलना", "नाश्ता करलो फिर खेलना" कहते हुए माता जी ज़रा दूरी पर खड़ी आग्रह करती रहीं और फिर दिलजीत के खेल में रत होने पर कोट को झाड़ते हुए वापस आ गयीं।

जाने क्यों मेरा मन एक साथ ही सुख और दुख के मिले-जुले भावों से भर गया। शिशिर का वही आकाश और वही धुंधियाली के झीने पर्दे में से झाँकते हुए सूर्य की कान्ति......

सारे देवनगर का चक्कर लगाकर प्रेस और ट्यूब-वैल में अटकता-भटकता, देवनगर के सामने की मरुभूमि में अकेले खड़े महान बरगद के नीचे सुसताता, परे कपास के छितरे खेत की परिक्रमा करता हुआ जब मैं लौटा तो खेल में और भी सरगर्मी आ गयी थी।

गुरवचन देवनगर का बैडमिण्टन चैम्पियन था, पर दिलजीत भी शहर के गवर्नमेण्ट कॉलेज में पढ़ता था। उसका खेल गुरवचन से घटकर न था। देवा जी भी पहुँच गये थे और कई दूसरे देवसैनिक बैडमिण्टन-कोर्ट के इर्द-गिर्द खड़े खिलाड़ियों को बढ़ावा दे रहे थे। लेकिन मैंने देखा—दिलजीत के 'शॉट' या 'प्लेसिंग' पर जो शोर बुलन्द होता, गुरवचन के खेल पर उसमें कमी आ जाती। प्रोत्साहन की धुनकी एक के लिए अपनी टंकार से रूई को छत तक उड़ा देती, लेकिन दूसरे की वारी पर 'वाह वा' के फाहे ज़रा-सी ऊँचाई तक ही उड़कर रह जाते।

मैं चुपचाप एक ओर खड़ा यह सब देख रहा था कि किसी ने हलके से मेरी बाँह को छुआ।

मैं चौंककर मुड़ा। वाणी थी—हाथ में रैकट और आँखों में वही फैलाव, गहराई और निमन्त्रण !

"आइए न संगीत जी। हमारी बाजी खत्म हो गयी। अब आप खेलिए।"

"लेकिन मुझे तो बैडमिण्टन वैसा आता नहीं। रैकट भी मेरे पास......"

लेकिन वाणी ने मेरी किसी आपत्ति पर ध्यान नहीं दिया। मेरी आस्तीन थामे हलके से मुझे खींचती हुई वह ले गयी।

कोर्ट में पहुँचकर अपना रैकेट उसने मेरे हाथ में दिया और एक ओर खड़ी होकर वह मेरे अटपटे खेल पर मुझे बढ़ावा देने लगी।

शायद दूसरी बाज़ी शुरू थी, जब मेरा ध्यान दूर बरगद की ओर चला गया। जाने कब तीरथराम वहाँ से खिसक गया था और दूर कहीं क्षितिज पर झाँकती हुई घटा-सा घिरा था।

———



शिशिर के शीत और पाले के कारण डेयरी की भैंसों और गायों का दूध सूख गया और दूध के साथ मक्खन की मात्रा कम हो गयी। किचन में हर दूसरे-तीसरे शलजम की तरकारी बनती थी। देवसेना प्रति व्यक्ति आठ रुपये खाने के लेती थी। युद्ध अभी शुरू ही हुआ था और कीमतें चढ़ी न थीं। आठ रुपये में दो रुपये प्रति व्यक्ति सेना बचा लेती थी। कारण कि जो तरकारी देवनगर के खेतों में लगती थी, वही किचन में पकती थी। मूलियों और शलजमों की बहार थी और देवताओं को हर दूसरे-तीसरे इन विटामिनों से भरपूर तरकारियों का स्वाद मिलता था। शुरू-शुरू में जो भी चाहता, एक आना देकर एक आउँस मक्खन की टिकिया ले लेता। शलजम

की तरकारी बिल्कुल हलवे की तरह पकती। मैंने भी पहली बार दूसरों की देखा-देखी उसमें मक्खन की टिकिया डाली तो सचमुच बड़ा स्वाद आया। फिर तो मैं हर दूसरे-तीसरे, जब भी शलजम की तरकारी पकती, उसमें मक्खन की टिकिया ज़रूर डालता। लेकिन ज्यों-ज्यों भैंसों और गायों का दूध घटता गया, मक्खन की टिकियाँ कम होने लगीं। इसको या उसको 'इनकार' होने लगा। तब नंदलाल और मधवार साहब ने मेरा ध्यान इस ओर दिलाया कि मक्खन के वितरण से ही पता चल जायगा, कौन देवा जी के निकट हैं और कौन दूर! जो निकटस्थ लोग थे उनको मक्खन की टिकिया (होने पर) ज़रूर मिलती। पहले देवा जी और उनका परिवार, फिर हरमोहन-सिंह, फिर गुरबचनसिंह, फिर हरनामसिंह, फिर तीरथराम— कुछ इस क्रम से मक्खन का वितरण होता।

धीरे-धीरे गायों का दूध भी कम हो गया। जिसे सेर भर मिलता था, उसे तीन पाव मिलने लगा। छटनी का कुठार पहले उन्हीं लोगों पर गिरा जो अल्पसंख्यक थे— दूसरे शब्दों में जिनसे हरमोहन सिंह अथवा उसके चापलूस प्रसन्न न थे।

बातें बड़ी छोटी-छोटी थीं—दूध, मक्खन,] सब्ज़ी-तरकारी, खेल-कूद— पर इन्हीं नन्हीं-नन्हीं बातों से दिलों में दरारें पड़ती जा रही थीं और मण्डल के उद्देश्यों से सैनिकों की आस्था उठती जा रही थी। मुझे व्यक्तिगत रूप से कोई कष्ट न था, पर यह बात ठीक थी कि देवनगर में वैसा भेद-भाव था और जिन उद्देश्यों को सामने रखकर देवनगर की स्थापना हुई थी, वे रेगिस्तान में सूखती हुई जलधारा सरीखे दीखते थे। मुझे लगता था कि मैं देवनगर में नाहक आया, निरंजनसिंह भी यहाँ आकर कुछ दिन रहते तो उन्हें देवनगर

के प्रेम और प्यार की हक़ीक़त मालूम हो जाती। और मेरी सहानुभूति धीरे-धीरे उन लोगों के साथ होती जा रही थी, जिन्हें देवनगर में अच्छा न समझा जाता था, जो देवा जी और उनके चापलूस रिश्तेदारों और सैनिकों के कृपाभाजन न थे, लेकिन जो सिद्धान्त पर चलने को समझौता करने से कहीं अच्छा समझते थे।

लेकिन देवनगर के संचालक और उनके प्रिय सैनिक जहाँ मेरे मन से दूर होते गये, वहाँ उनकी बेटी धीरे-धीरे—लगभग मेरे अनजाने, अनचाहे—मेरे निकट आती गयी। फिर एक ऐसी बात हुई कि उसके और अपने मध्य जो दूरी मैंने सयत्न बना रखी थी, वह सहसा जाती रही।

हुआ यों कि उन्हीं दिनों मैंने एक छोटा-सा मुसलमान नौकर रखा। मुझे नौकर की कुछ वैसी आवश्यकता न थी, पर देवा जी ने 'देववाणी' का उर्दू-संस्करण भी निकालना शुरू कर दिया था और मुझे उसका सम्पादक बना दिया था। सम्पादक तो क्या, मैं वास्तव में अनुवादक था, क्योंकि अधिकतर मेरा काम उनके पुराने लेखों के अनुवाद करके एक-आध उर्दू कविता अथवा कहानी की चटनी के साथ उन्हें 'देववाणी' के उर्दू पाठकों के समक्ष रख देना था कि यदि देवा जी के मधु-मीठे हलवे जैसे लेखों के आधिक्य से पाठक को अरुचि हो तो वह अपने मुंह का स्वाद बदल ले।

देवमण्डल और 'देववाणी' का दफ्तर ड्योढ़ी की बीच की म्यानी में था। दफ़्तर में मेरे बैठने की जगह न थी, कातिब भी नीचे कोने के तहखाने में बैठता था, जिसमें देवा जी ने रोशनदान बनवा दिया था। उस रोशनदान के बावजूद दिन को वहाँ बत्ती जलानी पड़ती थी।

इसीलिए मैं अपने कमरे में ही सम्पादन अथवा अनुवादन का सब काम करता था।

शिशिर जवानी पर था—धुंध, हवा और बून्दनियाँ न हों तो कोहरा और ओस! सुबह उठते तो बरामदे भीगे होते और पग-डंडियों पर पांव फिसलते। कई बार दिन-दिन भर झड़ी लगी रहती। मुझे देवा जी से लेख लेने के लिए दस नम्बर की कोठी के गुम्बद तक जाना पड़ता था, फिर अपने कमरे में आकर मैटर तैयार करके कातिब को पहुँचाना, लिखे जाने पर कापियों को पढ़ना और उन्हें चार फ़र्लांग की दूरी पर ट्यूब-वैल के पास प्रेस में पहुँचाना पड़ता। इस सबमें मुझे बड़ी परेशानी होती। तब सोचता कि यदि कोई चपरासी छोकरा होता तो मेरा बहुत-सा समय बेकार जाने से बच जाता। अपनी बात मैंने यों ही एक दिन नन्दलाल से कही। वह बोला—"आजकल दफ़्तर की व्यवस्था भी हरमोहनसिंह के अधीन है। तुम पर वह खुश होता तो इसकी कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर देता, पर अब यह मुश्किल है। हाँ, तुम चाहो तो एक देहाती छोकरा इस काम के लिए रख लो। दो-तीन रुपये महीने पर मिल जायगा।"

"सिर्फ़ दो-तीन रुपये पर?" मैंने चकित होकर पूछा।

"और क्या!"

"तो भाई प्रबन्ध कर दो, बड़ा आभार मानूंगा।"

हालांकि मैंने नन्दलाल से कह दिया था, पर जाने मुझे उसकी बात पर विश्वास नहीं आया, या मुझे नौकर की वैसी आवश्यकता न थी, इसलिए वह बात मेरे मन से उतर गयी।

जनवरी के शायद आठ-दस दिन बीत चुके थे। शिशिर का आकाश उन दिनों प्रायः मेघाछन्न रहता था। सुबह आसमान पर

बादल और जमीन पर कुहरा छाया होता। दोपहर के करीब धुंध और बादल छँटते। सूरज यक्ष्मा के रोगी सी श्वेत मुस्कान ओठों पर लाकर जैसे कुछ क्षण को झाँकता, फिर उन्हीं बादलों में छिप जाता। देहाती कहते कि सूरज निकलता पीछे है, अस्त पहले हो जाता है।

दिन के दस बजे होंगे। मैं कमरे में खिड़की के पास बैठा लिख रहा था। एक रात पहले वर्षा हुई थी, पर दिन भर पानी बन्द रहा था और वे पगडंडियाँ जिन पर सुबह पाँव फिसलने लगे थे, शाम होते-होते ठीक हो गयी थीं। पिछली रात आसमान बिल्कुल साफ़ था और एक-डेढ़ बजे रात के करीब चाँद और दो-एक तारे भी निकल आये थे। लेकिन सुबह हुई तो आकाश फिर मेघाछन्न ! सूरज कब निकला, इसका पता नहीं चला। तभी पूरब दिशा एकदम गहरी नीली हो गयी और देखते-देखते वह नीलिमा बढ़कर हमारे सिरों पर छा गयी और पानी बरसने लगा।

मेरी कोठी के पश्चिम की ओर खेत-ही-खेत थे। नजदीक ही पत्थरचट्टी का सरवनसिंह अपना खेत जोत रहा था। बैलों की घंटियाँ सन्नाटे को भर रही थीं और सरवनसिंह जाने किस बारहमासी कविता की केवल एक ही पंक्ति बार-बार गा उठता था :

माघ, मारिया दसरथ फिरे भौंदा
कित्थे लियाये ते उन्हां पिलाये पानी

लेकिन पानी जोर से पड़ने लगा और राजा दशरथ की व्यथा भूलकर वह बैलों को पनाह की खोज में हाँक ले चला और देखते-देखते जहाँ उसके हल ने लीकें डाल दी थीं, वहाँ पानी भर आया।

बाहर कोठी का लॉन तालाब बन गया और उसमें बुलबुले फूटने लगे। बुलबुले फूटने के सम्बन्ध में नन्दलाल के अधीन काम करने वाले किसान-मज़दूर कहते थे कि बुलबुला तभी फूटता है जब हवा नहीं होती और हवा नहीं होती तो बादल घुल-जाते हैं और बादल घुल जाते हैं तो झड़ी लग जाती है और पानी पर बुलबुले फूटने लगते हैं।

मैं कम्बल ओढ़े दरवाज़े में आ खड़ा हुआ। सामने बनौली के आम, जामुन और बेर सब ख़ामोश खड़े थे। पूरब की ओर कुएँ के बरगद पर तीन गिद्ध अपनी नंगी गर्दनों को पंखों में छिपाये जैसे सो गये थे। वट के नीचे एक भैंस खड़ी चुपचाप जुगाली कर रही थी। पानी वट के घने पत्तों की छतरी को भेदकर उसकी पीठ पर गिरने लगा था। वह कभी-कभी फुरेरी लेती थी और कभी घुमाकर दुम पीठ पर झटक देती थी। पर ऊपर से गिरती धारें मक्खियाँ तो थीं नहीं कि हट जातीं, इसलिए वह दुम हिलाना छोड़ कर फिर जुगाली करने लगती।

वहीं खड़ा, चौखट से टेक लगाये, मैं शिशिर की इस देहाती बरसात का आनन्द ले रहा था कि सामने सड़क पर हलकी-सी झुकी हुई कमर लिए हुए एक बुढ़िया और उसके साथ एक छोटा-सा बारह-तेरह साल का लड़का आते दिखायी दिये।

'वर्षा में भीगे, ठिठुरे ये किस मुसीबत में घर से निकल पड़े हैं?' मैंने सोचा।

लेकिन तभी वे मेरी कोठी के फाटक में दाखिल हुए। मैं चौंका। मेरे देखते-देखते वे बरामदे में आ गये। दोनों ने झुककर सलाम किया। लड़के ने खेस के नीचे मिलिटरी के बड़े-से कोट का छोटा

कराया हुआ एक कोट पहन रखा था। उसके अन्दर की जेब से उसने एक पुर्ज़ा निकालकर मेरी ओर बढ़ाया।

उसके गीले हाथों से रुक्के के कुछ अक्षर मिट गये थे। तब भी मैंने पढ़ लिया। नन्दलाल ने भेजा था कि इस छोकरे को नौकर रख लो। तीन जमात पढ़ा है। ग़रीब विधवा माँ का लड़का है। मन लगाकर काम करेगा। सूखे तीन रुपये महीना दे देना।

क्षण भर के लिए मैंने लड़के की ओर देखा — गोरा-चिट्टा रंग, तीखे नक्श, ज़रा झुकी गर्दन और नमित आँखें।

"क्या नाम है?"

"गुलाम नबी!"

"आगे क्यों नहीं पढ़ते?"

उत्तर माँ ने दिया कि घर में तो खाने को भी नहीं है, पढ़े कहाँ से!

"जो तीन रुपया महीना तुम इसके लिए चाहती हो, वह मैं दे दूंगा। हर महीने की पहली तारीख को यह आकर ले जाया करे, पर तुम इसे स्कूल भेजती रहो," मैंने कहा।

लेकिन समस्या इतनी सरल न थी। माँ ने बताया, पढ़ाई की फ़ीस और किताबें यह सब कहाँ से लायगा। अच्छा है कि जितनी जल्दी हो, कमाने लगे।

तभी मेरे दिमाग़ में प्रैक्टिकल स्कूल की याद हो आयी, जो देवा जी ने बाक़ायदा तो नहीं (क्योंकि बिल्डिंग पूरी न हुई थी) पर बेकायदा ढंग पर खोल दिया था और उसमें देवसैनिकों ही के नहीं, नौकरों के बच्चे भी दाखिल थे। मैंने मन-ही-मन कहा— लड़का होनहार है, क्यों न इसे उस स्कूल में भरती करा दिया जाय और मैं

कुछ निश्चिन्त होकर बोला—"माई तुम फ़िकर न करो, इसकी नौकरी का भी प्रबन्ध हो जायगा। और पढ़ाई का भी। कल से इसे भेज देना।"

वे दोनों सलाम कर मुड़े। बुढ़िया ने सलाम करने के साथ मुझे दुआयें भी दीं।

"अभी रुको, बरखा थम जाय तो जाना।"

"हमें तो अभी तीन मील जाना है सरदार जी, अब पानी कुछ कम हो गया है, बढ़ गया तो मुश्किल होगी।"

और वे दोनों चले गये।

झड़ी लगी हुई थी, पर पानी बेहद नन्हीं-नन्हीं बूंदियों में पड़ रहा था। मैं वहीं बरामदे में खड़ा उन दोनों को जाते देखता रहा। और उस समय तक खड़ा रहा जब तक दोनों माँ-बेटा काले-से दो बिन्दु बनकर आँखों से ओझल नहीं हो गये।

देवनगर का वह रिमझिमाता शीतल प्रभात सदा के लिए मेरे मस्तिष्क में अंकित हो गया, क्योंकि शिशिर के उस भीगते दिन में उस माँ-बच्चे ने केवल तीन रुपये महीने की नौकरी के लिए तीन मील से आकर मेरी आँखों से पर्दा हटा दिया था। जैसे शीशों की बड़ी-बड़ी खिड़कियों वाले खुले, रोशन, हवादार कमरों में रहने वाले कभी कल्पना भी नहीं कर सकते कि यह खिड़कियाँ—मामूली लकड़ी और शीशे की बनी खिड़कियाँ—टुण्डरा के बर्फ़ीले मरु में चर्बी की मोमबत्ती से रोशन दड़बों के अँधेरों में रहने वाले चुकचियों के लिए विभूतियों का दर्जा रखती हैं। उसी तरह मेरे लिए यह बात लगभग अचम्भे के बराबर थी कि एक महीने बाद सूखे

तीन रुपये पाने की उम्मीद में कोई उस पानी और ठंड में तीन मील कीचड़ भरा मार्ग तय करके आ सकता है।

यह ठीक है कि इर्द-गिर्द के गाँवों से छः आना, आठ आना रोज़ पर काम करने मज़दूर आते थे। किसान प्रातः के अँधेरे में उठ कर खेतों को चल देते। नूर के तड़के—जब अभी ओस पड़ रही होती और शिशिर का चाँद प्रातः के कोहरे में अपनी किरणों को समेट कर सिकुड़ा-हुआ सा अम्बर में ठिठुरा दिखायी देता और चिड़ियाँ तक अपने घोंसलों की गर्मी में सोयी होतीं और शीत पक्की दीवारों को भेदकर अन्दर चला आता—सरवन सिंह माघ महीने की महिमा गाता अपने बैलों को लिये हुए खेत जोतने आ जाता। लेकिन यह सब मुझे बड़ा रोमानी लगता—रोमानी और दिलकश! किन्तु उस बरसते पानी में सिर्फ़ तीन रुपये महीने की सूखी (बिना खाने कपड़े की) नौकरी के लिए गुलाम नबी और उसकी बुढ़िया माँ के चले आने से जैसे गाँव और उसकी भयानक गरीबी का पहला अहसास मेरी नसों में दौड़ गया।

जाकर कमरे में काम करना मेरे लिए दुष्कर हो गया। पानी फिर जोर से गिरने लगा था। 'वे दोनों अभी कहीं रास्ते ही में होंगे'—मैंने सोचा और उठकर मैं कमरे में घूमने लगा। बाहर एक कौआ इस गिरते पानी से बेपरवाह, भूख से अथवा अन्तर की आकुलता से कभी इधर-से-उधर, कभी उधर-से-इधर उड़ जाता और लॉन की गोंदनी में छिपी कोई चिड़िया कभी जोर से एक लम्बी सीटी भर देती। दृष्टि की सीमा तक महीन बूँदों की चादर, पीले खेत, ठिठुरे, सिकुड़े खामोश पेड़ पौधे, सोये गिद्ध और जुगाली करती भैंसें.........

शाम से कुछ पहले ही पानी थम गया। मैंने कम्बल चारपाई पर फेंक सूट पहना। पतलून के पाँयचे मौज़ों में दिये, एक हाथ में छड़ी और दूसरे में टार्च उठायी, और फिसलने से बचता हुआ मथवार साहब की कोठी की ओर चल दिया। वे प्रैक्टिकल स्कूल के सेक्रेटरी नियुक्त हुए थे और मैंने देवा जी से मिलने के पहले उनसे बात करना ठीक समझा।

कोठी पर जाकर मैंने दस्तक दी तो उन्होंने कहा—"दरवाज़ा खुला है, आ जाइए।" मैं अन्दर गया। वे तूश ओढ़े अपनी बेटी को पढ़ा रहे थे। मेरे जाते ही उन्होंने किताब रख दी। उनकी बेटी ज़रा परे हो गयी।

"कहिए, इस समय कैसे?"

मैंने गुलाम नबी की बात कहकर अपनी इच्छा प्रकट की कि लड़का होनहार लगता है, कुछ पढ़ जायगा तो उसकी ज़िन्दगी सँवर जायगी। आदि आदि.....

मथवार साहब मुस्कराये। फिर उन्होंने कहा—"प्रैक्टिकल स्कूल गुलाम नबी जैसे लड़कों के लिए नहीं है!"

मैं चुप रहा। वे अपनी बात की सफ़ाई देंगे, इस उत्सुकता में बैठा रहा। इस बीच में श्यामा ने दो-एक बार कनखियों से मेरी ओर देखा। जब मैं गुलाम नबी की बात कह रहा था, वह निरन्तर मेरी ओर देख रही थी। अन्तिम बार उसे मेरी ओर देखते हुए मथवार साहब ने देख लिया। लड़की से उनकी निगाहें मिलीं, वह अचकचा कर उठी और कापी-किताबें लिये दूसरे कमरे में चली गयी।

कुछ क्षण बाद मथवार साहब फिर बोले, "देवमण्डल के पुराने उद्देश्य यदि क़ायम रहते, इसके काम का घेरा फैलता, शहर-शहर

और कस्बे-कस्बे सैनिक बनते तो गुलाम नबी या उस जैसे होनहार देहाती लड़कों को पढ़ाना मुश्किल न होता, पर इस प्रैक्टिकल स्कूल में सम्भव नहीं।"

क्षण भर चुप रहकर वे फिर बोले—"मैंने तो पिछले दिनों त्यागपत्र दे दिया था कि मैं यहाँ कोई उपादेय काम नहीं कर रहा, मुझे छुट्टी दे दी जाय। पर देवा जी माने नहीं। उन्होंने कहा कि मैं प्रैक्टिकल स्कूल का मंत्री बन जाऊँ। स्कूल के बच्चों में काम करने का, उनकी रुचि-अभिरुचि को पहचान कर उनकी शिक्षा को ठीक ढर्रे पर लगाने का, माता-पिता को उनके बच्चों के बारे में ठीक परामर्श देने और यों भारत के भावी नागरिकों के चरित्र को ढालने का अवसर मिलेगा। मैं मान गया। लेकिन जो कीड़ा देवनगर की जड़ों को उनके जमने से पहले खा रहा है, वह प्रैक्टिकल स्कूल को भी लग गया है। माता जी स्कूल के होस्टल की मैट्रन बन गयी हैं और अध्यापक देवा जी के बच्चों के साथ दूसरों के बच्चों की अपेक्षा बेहतर सलूक करते हैं, उन्हें ध्यान से पढ़ाते हैं, क्लासों की जितनी कमेटियाँ हैं, उनकी गद्दी पर या तो देवा जी के बच्चे जमे हैं या देवनगर में कोठियाँ बनवाने के लिए ज़मीन लेने वाले अमीर लोगों के।"

"लेकिन रामा थापा का बच्चा तो......"

"वह देवनगर में आने वालों को दिखाने के लिए है। जैसे नेता कुछ काम केवल वोटरों और चुनावों को सामने रखकर करते हैं, इसी तरह प्रैक्टिकल स्कूल में रामा थापा के बच्चे का प्रवेश भी केवल दिखावे के लिए है। जब बाहर का कोई अमीर आदमी देवनगर देखने आता है तो जहाँ देवा जी अपने बच्चों को दिखाते हैं, वहीं रामा थापा के बच्चे को भी आगे ला खड़ा करते हैं कि प्रैक्टिकल स्कूल कैसे

कूढ़मग़ज़ों को भी चतुर और मेधावी बना देता है। नतीजा यह होता है कि जब अतिथि प्रैक्टिकल स्कूल को देखकर देवा जी के पास गुम्बद में जाता है तो वे उसके हाथ ज़मीन के दो टुकड़े बेच देते हैं और इस तरह देवसेना के एक महीने के ख़र्च की व्यवस्था हो जाती है।"

और मधवार साहब मुस्कराये। फिर बोले :

"देवा जी के सामने इस समय सबसे बड़ा आदर्श, इस सस्ती खरीदी ज़मीन को ऊँचे दामों बेचना है, लेकिन इस वीराने में कोई क्यों आयेगा और क्यों मँहगी ज़मीन मोल लेगा? इसीलिए उन्होंने प्रैक्टिकल स्कूल शुरू किया है कि मध्यवर्ग के लोग, जो अपने बच्चों को शिमला, मसूरी और नैनीताल नहीं भेज सकते, यहाँ भेजें और रिटायर होने पर यहीं बस जायँ। यही उनका उद्देश्य है। मैं पूछता हूँ कि यदि वे इसमें सफल हो भी जायँ तो क्या होगा? दूसरे नगरों और इसमें क्या अन्तर होगा? इससे हमारे इर्द-गिर्द के देहातों को क्या लाभ पहुँचेगा? क्या यह कूड़े के ढेर पर इत्र की शीशी नाक से लगाकर बैठना न होगा?"

किचन में खाने की पहली घंटी बज गयी। बातों में हमें समय का ज्ञान न रहा था। मधवार साहब उठे। "आप इस चिन्ता को छोड़िए, उस बच्चे को नौकर रख लीजिए," उन्होंने कहा, "गुलाम नबी-ऐसे न जाने कितने लाख बच्चे हमारे देहात में पड़े अपनी प्रतिभा गँवा रहे हैं। एक प्रैक्टिकल स्कूल बनने या उसमें एक नबी के भरती होने से क्या होगा? यहाँ तो कस्बे-कस्बे और गाँव-गाँव प्रैक्टिकल स्कूल खुलने चाहिएँ, पर क्या यह काम कोई एक आदमी या एक संस्था कर सकती है? यह काम सरकार का है। मैं समझता हूँ, हमें सबसे पहले विदेशी सरकार को निकालना चाहिए, फिर कुछ हो

सकता है। मैं तो फिर जाकर देश की आज़ादी के संग्राम में जुट जाना चाहता हूँ।"

लेकिन मघवार साहब की बातों और अपने मन में बढ़ते हुए संदेह के बावजूद देवा जी के महान आदर्शों और उनकी गहरी मानव-संवेदना में मेरा विश्वास था। वे अपने स्कूल में एक बच्चे को दाखिल न कर सकेंगे, इस बात पर मुझे विश्वास न हुआ।

नबी दूसरे दिन सुबह ही एक पोटली में सूखी रोटी और अचार बाँधे आ गया। उसे सफ़ाई का सब काम समझाकर, नया लेख लेने के बहाने मैं गुम्बद में पहुँचा और लेख लेने के बाद मैंने नबी की बात चला दी।

"स्कूल की फ़ीस तो पच्चीस रुपये महीना है," देवा जी ने कहा, "उसको पच्चीस रुपया कौन देगा?"

"लेकिन रामा थापा का लड़का....." मैंने कहना चाहा।

"उसके पच्चीस रुपये सेना देती है और सेना इतनी अमीर नहीं कि इन देहातों के सारे ग़रीब लड़कों को इस स्तर की शिक्षा दे।"

"पर नबी के होस्टल में रहने की ज़रूरत नहीं, वह केवल स्कूल में पढ़ लिया करेगा," मैंने कहा, "उसकी कापियों-किताबों का प्रबन्ध मैं कर दिया करूँगा।"

तभी वाणी न जाने कहाँ से हमारे निकट आकर खड़ी हो गयी। वास्तव में उस कमरे में जाते समय मैं बूट और गीली जुराबें उतारने और रूमाल से पैर पोंछकर दरी पर रखने की घबराहट में यह न देख पाया था कि वाणी उस अटकोने गुम्बद के एक गोशे में चुपचाप बैठी कोई किताब देख-देख कर नोट ले रही है।

देवा जी के माथे पर हलकी सी खिजलाहट भरी लकीर वन गयी। पर वे कहते गये—"वात कितावों-कापियों की नहीं, प्रैक्टिकल स्कूल और दूसरे स्कूलों में यह फ़र्क है कि यहाँ वच्चों को कोई खास कोर्स न पढ़ाया जायगा और जिस-जिस विषय में उनकी रुचि होगी, उस-उस में उन्हें शिक्षा दी जायगी। खड्डियाँ, वढ़ईगीरी, चित्रकला, निर्माण-कला, गायन-विद्या, इंजीनियरी, राजगीरी—इस सव में वड़ा खर्च है। फिर स्कूल के सारे लड़कों की वर्दी एक-सी होगी . . .।"

जैसे नवी के स्कूल में दाखिल होने के रास्ते में यही एक रुकावट हो, मैंने कहा, "वर्दी मैं वनवा दूंगा।"

देवा जी के ओठों पर वेज़ारी की एक मुस्कान फैल गयी। मेरी मूढ़ता पर जैसे उन्हें तरस हो आया। उनकी खिजलाहट माथे पर कई तेवरों में प्रकट हो गयी, पर अपने ऊपर सयत्न संयम रखकर उन्होंने कहा—"वात सिर्फ़ वर्दी की नहीं, और वहुत-सी वातें हैं। स्कूल में अधिकतर अमीरों के वच्चे जायेंगे, नवी उतना खर्च नहीं कर सकेगा. उसमें हीन-भाव उत्पन्न हो जायगा, नवी जैसे वच्चों के लिए एक अलग स्कूल होना चाहिए।"

प्रकट ही देवा जी टाल ही नहीं, साफ़ इनकार कर रहे थे, पर मुझे कुछ वच्चों का-सा हठ हो आया। मैंने कहा, "लेकिन रामा थापा का वच्चा दुर्गा. . . . . . ."

वेसव्री से मेरी वात काटकर देवा जी ने कहा, "थापा का वच्चा काफ़ी समय से हम सव में रहने के कारण अपनी स्थिति से परिचित है, फिर वह एक अपवाद है।"

तव जाने मुझे क्या हुआ, मैंने मथवार साहव की वात दोहरा दी और पूछा कि जिस स्कूल में हमारे पड़ोसी गाँव का एक ग़रीव

होनहार बच्चा जगह नहीं पा सकता, उस स्कूल से क्या लाभ होगा? इर्द-गिर्द के गाँवों के लिए यह सब क्या अमीरी का दिखावा न होगा? देहात के बच्चों को उन सब के भाग्य से ईर्ष्या न होगी? क्या उन सबके मन में हीन-भाव और अमीरों के प्रति विद्वेष पैदा न होगा? उन्हीं की बात दुहराते हुए मैंने कहा, "आपही कहते थे कि जब तक हमारे इर्द-गिर्द के लोग समृद्ध और खुशहाल न होंगे हम सुखी नहीं हो सकते।"

देवा जी मेरी बात सुनते रहे, पर बेसब्री और अन्तर का क्रोध उनके चेहरे पर साफ़ प्रकट था। प्रैक्टिकल स्कूल के निर्माण पर उन्हें बड़ा मान था। देववाणी में उसकी प्रशंसा में उन्होंने कई लेख लिखे थे। अमरीका में चलने वाले ऐसे कई स्कूलों का उल्लेख कर उन्होंने दावा किया था कि प्रैक्टिकल स्कूल उनसे किसी तरह कम न होगा। जैसे कलाकार को अपनी कृति की बुराई नहीं भाती, वैसे ही देवा जी को मेरी आलोचना अच्छी न लगी। फिर, मैं उनका एक साधारण नौकर, मुझे क्या अधिकार था उनकी आलोचना करने का?

लेकिन बड़े यत्न से उन्होंने अपने क्रोध को अन्दर ही रोक लिया और जब बोले तो उनके माथे पर एक भी लकीर न थी और वे मुस्करा रहे थे।

"प्रैक्टिकल स्कूल के महत्व को आप समझे नहीं।" उन्होंने कहना शुरू किया, "हमारे शहरी नागरिकों को गाँवों का कोई ज्ञान नहीं और शायद आप नहीं जानते कि सच्चा हिन्दुस्तान गाँवों में बसता है। आने वाली पढ़ी-लिखी पौध के लिए गाँवों का ज्ञान पाना जरूरी है। प्रैक्टिकल स्कूल के बच्चे शिक्षा पाने के साथ-साथ इर्द-गिर्द के गाँवों में जायंगे, वहाँ का ज्ञान पायँगे और देश-सेवा का

काम और भी दक्षता से कर सकेंगे। मैं स्कीम बना रहा हूँ कि गाँवों का अध्ययन करने के साथ-साथ बड़े बच्चे गाँवों में जाकर सेवा भी करें।"

देवा जी बात कहने में दक्ष थे और प्रैक्टिकल स्कूल उनका प्रिय विषय था। वे इस विषय पर निरन्तर बोलते गये। लेकिन उनकी बातें जैसे मेरे कानों में नहीं पड़ीं। प्रैक्टिकल स्कूल की फ़िज़ा में देशभक्त पैदा होंगे, इसका मुझे विश्वास न था। होंगे तो देहात का वैसा ऊपरी ज्ञान पाकर वे उससे कुछ लाभ उठा सकेंगे, इसमें मुझे सन्देह था। मेरे खयाल में इससे कहीं अच्छा था कि देवा जी गाँव के छात्रों का एक स्कूल खोलते। बाहर से आकर गाँवों का ऊपरी ज्ञान प्राप्त करने वाले छात्रों की अपेक्षा गाँवों की मिट्टी में पलने वाले छात्र उनको अधिक लाभ पहुँचाने की क्षमता रखते हैं।

पर अपनी शंका मैंने उनके सामने नहीं रखी। सिर्फ़ इतना कहा कि यदि मेरे नम्र निवेदन का कोई महत्व हो तो इर्द-गिर्द के गाँवों का भी एक-न-एक छात्र प्रैक्टिकल स्कूल में ले लेना चाहिए और नबी मेरे खयाल में बड़ा अच्छा छात्र साबित होगा।

मेरे हठ और नासमझी पर देवा जी की खिजलाहट फिर उनके माथे पर नये तेवरों के रूप में प्रकट हुई, पर बरबस अपने ऊपर संयम रखकर उन्होंने कहा—"स्कूल की तो एक कमेटी है भाई—प्रिन्सिपल, सेक्रेटरी, मैट्रन और दो प्रोफ़ेसर—सब कुछ उन्हीं के हाथ में है। मेरे अकेले के करने से थोड़े ही कुछ होगा।"

और उन्होंने अपने काम की ओर मुड़ने का अभिनय किया।

इस प्रकार टाले जाने पर भी जैसे मुझे अपनी हार गवारा न हुई। मैंने कहा, "जी, मैं सेक्रेटरी साहब से बात करूँगा।" और नमस्कार करके उठ खड़ा हुआ।

कितनी ही देर से मुझे लग रहा था कि वाणी मेरी ओर निरन्तर तक रही है। पर न जाने क्यों, उससे आँखें मिलाने में मुझे बड़ी झिझक लगी। दरवाजे पर जाकर जूतों से मौजे निकालकर मैं पहनने लगा। तभी वह बाहर जाने के लिए आयी और मुझे रास्ते में देखकर रुक गयी। मौजे पहनता-पहनता मैं एक पैर के सहारे फुदक-कर एक ओर को हट गया। वह बदन बचाकर मेरे पास से निकल गयी।

गुम्बद से चला तो मैं सोच रहा था कि मैंने सेक्रेटरी से मिलने की बात देवा जी से क्यों कही? सेक्रेटरी तो मघवार साहब हैं और मघवार साहब से मैं मिल आया हूँ। फिर यदि देवा जी चाहें तो नबी को स्कूल में दाखिल करने से उन्हें कौन रोक सकता है? यह ठीक है कि उनकी पत्नी का उनपर बड़ा जोर है, पर देवा जी जब चाहते हैं, उससे अपनी बात मनवा लेते हैं। रामा थापा के बच्चे को उन्होंने दाखिल करा दिया, तो नबी को क्यों नहीं करा सकते? लेकिन जब वे नहीं चाहते, फिर मैं क्यों अड़ गया? क्या वाणी की उपस्थिति तो इसका कारण न थी? क्या उसके सामने अपनी हेटी ही तो मुझे असह्य न थी?

'जब मघवार साहब ने मुझे बता दिया था कि यह प्रैक्टिकल स्कूल नबी-जैसे बच्चों के लिए नहीं है, तब मैं क्यों गया देवा जी के यहाँ?' सहसा मेरे विचारों ने पलटा खाया..... पर अन्तर के

किसी गोशे में मुझे ख़याल था कि शायद विरोधी गुट में होने के कारण मघवार साहब अत्युक्ति से काम लेते हैं। देवा जी एक बच्चे के लिए कुछ-न-कुछ प्रबन्ध अवश्य कर देंगे!

कभी देवा जी और कभी अपने आप पर खीझता-झुँझलाता मैं चला जा रहा था कि मेरे कानों में बाँसुरी के धीमे, मीठे स्वर जैसी आवाज़ आयी—"संगीत जी!"

मैं चौंका। देखा—अपनी कोठी के पीछे—रास्ते से हटकर, वाणी खड़ी है। शायद वह मेरे आगे-आगे आकर वहाँ खड़ी हो गयी थी। उस दिन से लेकर जब उसने बरबस मेरे हाथ में बैडमिण्टन का रैकेट थमा दिया था और मैंने उससे दो-एक बाजियाँ खेलीं थीं, उसमें और मुझमें कोई विशेष घनिष्टता न बढ़ी थी। एक-दो बार मैं और बैडमिण्टन खेलने गया था और दो-एक बार चलते-चलते रास्ते में उससे अभिवादन का आदान-प्रदान हुआ था, लेकिन हम पहले जितनी दूर थे, अब भी उतनी ही दूर बने थे। यदि मैं उनके घर आता-जाता, माता जी मुझसे खुश होतीं, तीरथराम की ईर्ष्या की छाया सदा सिर पर न मँडराया करती और मैंने अपनी पत्नी की मृत्यु को इतने निकट और इतनी दुःखद परिस्थिति में न देखा होता तो शायद हमारे मध्य का अन्तर कुछ कम हो गया होता। पर तब एक ओर नये विधुर का निराश संकोच था और दूसरी ओर मुग्धा बाला का चकित प्रेम! और दोनों का अन्तर वैसे का वैसा बना था।

वाणी की आवाज़ से मैं रुक गया, पर उसकी ओर बढ़ा नहीं। वह सकुचाती-सकुचाती चन्द क़दम आगे आ गयी। अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसने मेरी ओर उठायीं। वर्षा थम गयी थी, पर सारे आकाश पर हलके-हलके बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े उड़ रहे थे। उस

ठंडे मटियाले प्रकाश में वाणी का मुख मुझे एकदम श्वेत लगा। कुछ अन्तर के उद्वेग और कुछ ठंड से उसके कंठ-भाग पर लोम-रंध्र उभर आये थे। उस श्वेत उद्वेलित मुख को देखते-देखते कुछ अजीब-से दया-भाव से मेरा मन आप्लावित हो गया। उसकी बात सुनने को उत्सुक मैं खड़ा रहा।

"आप घबराइए नहीं," मेरे पास आकर उसने बड़े धीरे से—जैसे अपने आप ही से—कहा, "मैं दार जी से कहकर उस लड़के को स्कूल में ऐडमिशन ले दूंगी।"

निमिष भर को वह रुकी, अपनी उन बड़ी-बड़ी गहरी-भोली आँखों को मेरे अन्तर की गहराइयों में उतारते हुए उसने कहा—"आप कितने अच्छे हैं, संगीत जी! एक अपरिचित देहाती छोकरे के लिए इस पाले में मारे-मारे फिरते हैं! मुझे श्यामा ने बताया कि आप मघवार साहब के पास भी गये थे।"

यदि वह निमिष ज़रा तूल खींचता तो न जाने क्या हो जाता! निश्चय ही मैं उस नन्हीं सी बाला को दोनों बाहों में भरकर उठा लेता। पर पूरे संयम से उन बड़ी-बड़ी आँखों के जादू से अपने आपको तोड़ते हुए मैंने उस क्षणिक उद्वेग पर अधिकार पा लिया, यद्यपि इस प्रयास में नख से शिख तक मैं हिल गया। "मैं बड़ा आभारी हूँ!" एकदम सूखे कण्ठ से मैंने बड़े धीमे से कहा और दोनों हाथ माथे पर ले जाते हुए लम्बे डग भरता हुआ मैं चल दिया।

सामने हरमोहन सिंह के कमरे की खिड़की से तीरथराम खड़ा हमारी ओर देख रहा था। मेरी आँखों के उठते ही वह खिड़की से हट गया। अब मालूम हुआ कि वाणी पगडंडी से हटकर कोठी की दीवार से क्यों लगी खड़ी थी।

रात काफ़ी बीत गयी थी। सोने का निष्फल प्रयास कर मैं बाहर बरामदे में चला आया।

आसमान एकदम साफ़ हो गया था और तारे टिमटिमा रहे थे, लेकिन धरती और आकाश के बीच चारों ओर धुंध छायी हुई थी। पूरब की ओर अम्बर में चाँद की तीन चौथाई टिकिया दो प्रभा-मंडलों के मध्य चमक रही थी। एक मंडल किंचित गुलाबी और दूसरा नीला-नीला श्वेत और उसके बाद मटियाली-धुंध! दूर कुएँ का वट-वृक्ष उसी धुंध में लिपटा हुआ था और खिड़की के पास का बबूल ठिठुरा खड़ा था और चाँद की किरणें धुंध को चीर कर धरती पर बिखरे जल को चमका रही थीं।

मैं चुपचाप बरामदे में घूमने लगा और मेरे दिमाग़ में बार-बार घूमने लगीं वही बातें, वही दृश्य, वही बहस, सफ़ेद गर्दन पर उभरे लोम-रंध्र और पीला-श्वेत मुख!

मैं सोचता था कि पहले कभी मेरे मन में गरीबों के प्रति उस तरह सहानुभूति का सागर क्यों नहीं उमड़ा? गाँवों को मैं न जानता सही; पर मेरे कस्बे में ग़रीबी की कमी न थी। मेरे अपने मुहल्ले में उतने ग़रीब लोग न सही, पर काफ़ी ग़रीब लोग थे और उन्हें बड़ी मुसीबतों में फँसे मैंने देखा था। तब क्यों अचानक नबी और उसकी माँ को उस तरह पानी में भीगते देखकर मैं एकदम द्रवित हो उठा?

पर शायद मैं पहले देखकर भी न देखता था। अपने सुख में मस्त, मेरी आँखों को अपने इर्द-गिर्द सिवा अपने कुछ भी दिखायी न देता था। पर पित्तो की मौत ने, फिर कभी उस तरह न भरने वाले उस अभाव ने, अचानक मुझे वे आँखें दे दीं थीं, जो दूसरों का दुःख भी

देख सकें...... कैसी अजीब बात है कि आँखें रहते भी मनुष्य बहुत कुछ नहीं देखता—लोग मरते हैं, भूख से बिलखते हैं, बीमारी से तड़पते हैं, कमर तोड़ देने वाले संघर्ष में रत रहते हैं, पर आँखें रखते हुए भी हमें वह सब दिखायी नहीं देता। फिर अचानक कोई व्यक्तिगत दुःख या अभाव हमारी आँखों पर छाया हुआ पर्दा उठा देता है और ग़रीबी, भूख और मौत को रोमानी दृष्टि से देखने वाली हमारी आँखें रोमानी दृश्यों के पीछे छिपे दुःख को भी देखने लगती हैं.....

......या शायद वह देवनगर की फ़िज़ा या देवा जी के लेखों को पढ़ने या उनके प्रवचन सुनने का असर था कि मैं वह सब देखने लगा था जो पहले न देखता था, वह सब सोचने लगा जो पहले कभी न सोचता था।......देवा जी ने कहा था, बड़े सपने देखने के लिए बड़ी आँखें चाहिएँ। तो क्या मुझे वे बड़ी आँखें मिल गयी थीं कि मैं देश की ग़रीबी को दूर करके, उसकी अशिक्षा को मिटाने, ग़ुलामी से नजात दिलाकर उसे समृद्ध और ख़ुशहाल देखने के सपने लेने लगा था और वह घोर ग़रीबी मुझे खलने लगी थी?......

......या यह मधवार साहब के पास बैठने का फल था—सत्य के उस अन्वेषी की संगति का—कि मैं देवनगर और उसकी सरगर्मियों का आलोचक बन गया था। मैं (जिसने कभी इन बातों की ओर ध्यान भी न दिया था, कांग्रेसी नेताओं के बीच रहकर भी जो देश की समस्याओं के बारे में कभी न सोचता था) अब अचानक उन सबके बारे में जागरूक हो उठा था, सत्य का अन्वेषी बन बैठा था......

......या यह वाणी की उन बड़ी-बड़ी आँखों का—उन गहरी भोली आँखों का—प्रताप था, जो सदा कुछ अजीब-सी श्रद्धा

और स्नेह से मुझे देखती थीं? क्या उन भोली-भाली, ठहरी-नियरी झील-सी खामोश, लेकिन इसपर भी शत-शत वाणियों में मुखर उन बड़ी प्यारी आँखों ने मेरी चेतना की मूर्छना को दूर कर, सजग कर दिया था? क्या उन आँखों में उठ जाने की आकांक्षा ही मेरे उपचेतन में अनजाने ही न समा गयी थी?......

हर प्रेम के तल में कहीं जरूर वासना की हलकी धारा होती है, लेकिन ऐसा प्रेम भी है जो गिराता नहीं उठाता है, जो मन को वे आँखें दे देता है जो अनजाने भेद जान लेती हैं और शरीर को वह शक्ति प्रदान करता है कि आदमी हँसते-हँसते अनजानी मुसीबतों से जूझ जाता है।........क्या वाणी का प्रेम ही मुझे ऊपर न उठा रहा था?

......वेलि पेड़ का सहारा पाने, उससे लिपट जाने को विवश है, उसकी उस वेवसी से पेड़ अपनी महत्ता पर गर्व कर सकता है, पर उससे लिपट कर वह असहाय विवश वेलि—उसे कितनी स्निग्धता, कितनी पूर्णता प्रदान कर देती है, यह बात तो कुछ-कुछ वह ठूंठ ही जानता है, जिससे लिपटी बेलि को निर्दय झंझावात ने उड़ा दिया हो......और मेरे अस्तित्व को अपनी स्नेह-सिक्त, स्निग्ध, गर्म, श्रद्धा में आच्छन्न करता हुआ-सा उन बड़ी-बड़ी आँखों का परस उस बरामदे के नीम-अँधेरे में निरन्तर मुझे छूने लगा।

तभी रामा थापा ने बारह का गजर बजाया। घड़ियाल की टन-टन....टन-टन....सर्दियों की रात के उस ठिठुरे, सिकुड़े स्तब्ध सन्नाटे को झकझोरती हुई चारों-दिशाओं को गुंजा गयी।

पर धुंध घनी होकर प्रभा-मण्डल के उस गुलावीपन को निगल गयी और ठूंठ-सा चाँद आकाश में मुटर-मुटर तकने लगा।...लम्बी

सांस खींचकर मैं अन्दर चला गया और लिहाफ़ पर एक और कम्बल डालकर लेट गया।

वाणी ने अपनी बात पूरी कर दी। दो दिन बाद जब मैं खाना खाने जा रहा था तो देवा जी ने रास्ते में रोककर मुझे बताया कि उन्होंने नबी की सिफ़ारिश स्कूल के सेक्रेटरी मधवार साहब और मैट्रन महोदया (उन्होंने मुस्कराते हुए माता जी की ओर देखा) से कर दी है। नबी का सारा दिन वहां रहना जरूरी नहीं। अँग्रेजी, उर्दू, भूगोल, इतिहास और गणित के पीरियड वह पढ़ लिया करेगा। भूगोल और इतिहास एक दिन छोड़कर बारी-बारी से आते हैं, इसलिए चार ही पीरियड उसे पढ़ने होंगे। दो कमीजों और दो निकरों से काम चल जायगा। जब वह कुछ पढ़ जायगा तो उसे कोई दस्तकारी सिखा दी जायगी। "बाक़ी समय आप उससे काम लीजिए," उन्हों ने कहा, "ताकि उसे अहसास हो कि वह किसी की दया से नहीं अपनी मेहनत से पढ़ रहा है। चार पीरियड दो घंटों के होते हैं। दिन में दो घंटे भी पढ़ लेगा तो काफ़ी होगा।"

मैंने अपना आभार प्रकट किया और पहली बार सच्चे दिल से माता जी को हाथ जोड़कर 'नमस्कार' करते हुए कृतज्ञता प्रकट की।

वाणी मेरे वाली पाँत में खाने को बैठी। वह उस दिन बड़ी खुश थी। सहेलियों के साथ बड़ी सरगर्मी से बातें करती, हँसती-हँसाती खाना खाती और परसने वालियों से मज़ाक करती रही। इस बीच उसकी निगाहों का वह स्नेहभरी श्रद्धा से भीगा स्पर्श निरन्तर मुझे छूता रहा।

जब मैं थाली लेकर नल पर पहुँचा तो वह भी आ गयी। मैं हमाम के नीचे हाथ धोने लगा, पर उसके लिए जगह छोड़कर एक ओर हो गया।

"थैंक्यू !"

वह हाथ धो रही थी जब मैंने धीरे से कहा—

"नवी के लिए तुमने जो किया है उसके लिए मैं बड़ा आभारी हूँ।"

वह रूमाल से हाथ पोंछ रही थी और उसका वह सफ़ेद-सफ़ेद मुख एकदम लाल-लाल हो रहा था।



नवी के आने के वाद का महीना-डेढ़ महीना मेरे जीवन की कभी न भूलने वाली स्मृतियों में से है। डाइनिंग हाल की मेजों पर वैठ-वैठे वाणी में और मुझमें दृष्टियों का विनिमय चाहे कितना भी क्यों न होता हो और देवनगर की रविशों पर एक दूसरे के पास से गुजरते समय संकोचभरी निगाहें एक-दूसरे को क्यों न देख लेती हों, पर वात-चीत हममें कम ही होती थी। लेकिन नवी जैसे वाणी को मेरे निकट लाने का एक सहारा वन गया और उस वारीक से तार को थामे वाणी मेरी ओर खिचती चली आयी। उसके उस स्नेह ने, जो वातों की अपेक्षा उसकी वड़ी-वड़ी आँखों में झलकता था, अप्रत्यक्ष रूप से

अपनी आँच से, मेरे हृदय के जमाव को धीरे-धीरे गर्माकर पिघला दिया।

शिशिर की उन धुंधियाली, अँधेरी शामों में—जब सैर करना मुश्किल था—मैं खाने से पहले और खाने के बाद का अधिक समय नन्दलाल के यहाँ ही बिताता था। सावित्री को पढ़ाता; उसके बच्चों से खेलता; नन्दलाल से देवनगर की राजनीति की बातें सुनता। और कुछ न होता तो चुपचाप उनके बड़े कमरे में बैठा रहता। किसी भरे-पुरे परिवार का खाली कमरा भी कितना भरा-पुरा रह सकता है और किसी की उपस्थिति के बिना भी मेरे जैसे किसी एकाकी को कितनी तसल्ली दे सकता है? इसका भी आभास मैंने पहले-पहल वहीं पाया।

वाणी पहले कभी वहाँ न आयी थी, पर नबी के स्कूल में दाखिल होने के दूसरे दिन ही वह घूमती-घामती अपनी छोटी बहन के साथ वहाँ आयी और सावित्री आंटी और नन्दलाल अंकल से दो-चार मज़ाक करने के बाद चलते समय, जैसे अचानक याद आने पर, उसने नबी की बात चलायी कि वह दाखिल हो गया है, कि एक पीरियड खाली होने पर उसने स्वयं उसे पढ़ाया है और वह आगे भी ऐसा ही करेगी और जहाँ तक नबी की शिक्षा का सम्बन्ध है, मैं ज़रा भी चिन्ता न करूँ!

उस दिन के बाद वाणी प्रायः रोज़ ही कुछ-न-कुछ मिनटों के लिए वहाँ आने लगी। सावित्री या नन्दलाल से बातें करते-करते या बच्चों से खेलते-खेलते वह यों ही मुझसे बातें करने लगती......

"आपने देखा, नबी कैसा पढ़ रहा है?" वह पूछती....और बात शुरू हो जाती।

......या कहती—"आज नबी ने घर के लिए दिया हुआ काम नहीं किया, क्या आपके यहाँ काम ज़्यादा था, या उसने ध्यान नहीं दिया?"....और बात शुरू हो जाती।

......या घोषणा करती—"नबी की लिखावट तो बड़ी सुन्दर है संगीत जी! ऐसी तो मेरी अपनी भी नहीं। मास्टर जी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे।"....और बात शुरू हो जाती।

नन्दलाल के घर की उन संक्षिप्त उड़ती-उड़ती मुलाकातों की याद आती है तो सोचता हूँ कि उनमें क्या था जो उनको इतना मधुर बना देता था! वाणी ज्यादा देर न रुकती। दो-चार बातें करके उसे जाने की जल्दी हो जाती। इस जल्दी में जो बातें होतीं, उनमें न प्यार होता, न मुहब्बत....नबी कैसे आया?....कैसे मेरे मन में उसे पढ़ाने की बात पैदा हुई....अच्छा ही किया जो मैंने उसे पढ़ाने की सोची....गाँव में एक भी लड़का पढ़ जाय तो वह गाँव की किस्मत पलट सकता है....आदि आदि....लेकिन यही बातें दिल की धड़कन को कुछ तेज़ कर देतीं और वह चली जाती तो कटुता के साथ-साथ ढेर सी मिठास छोड़ जाती।

कटुता का कारण यह न था कि वह आती तो कुछ ही देर बाद चली जाती, बल्कि यह कि वह आती तो कुछ ही देर बाद तीरथराम या हरमोहन, "कहिए सावित्री जी, कुछ चाय-वाय हमें भी पिलाइए?" या "अच्छा सावित्री जी, अकेले-अकेले?" कहते हुए आ जाते। वाणी डरी हुई हिरनी-सी चौंक पड़ती और फिर उसके मुख पर क्रोध और खेद का बादल-सा छा जाता और वह 'सावित्री आंटी' को नमस्कार कर या बच्चों के गाल पर चुटकी लेती या उन्हें चूमती हुई भाग जाती।

वाणी तो शायद तीरथराम और हरमोहनसिंह के बावजूद आती, पर मैंने वह सिलसिला तोड़ दिया।

हुआ यह कि एक दिन सावित्री ने कहा—"भरा जी, आजकल वाणी बहुत आने लगी है यहाँ।" और उसने मेरी ओर बड़ी भेद-भरी, शोख और मुस्कराती हुई आँखों से देखा, पर मैं एकदम भावना हीन बना बैठा रहा। ओठ तो दूर, मैंने आँखों तक में मुस्कान की छाया नहीं आने दी। फिर सावित्री ने स्वयं कहा—"और वाणी आती है तो तीरथराम या हरमोहन भरा जी भी ज़रूर आते हैं।"

मैंने इसका भी उत्तर नहीं दिया। सिर्फ़ यह किया कि शाम को नन्दलाल के यहाँ जाना बन्द कर दिया।

दो-चार दिन यों ही डोलता रहा। इस बीच में ज्ञानी दिलावर-सिंह से मैंने आसाम के उनके फ़ार्म की कहानियाँ सुनीं; खोसला-साहब से सिद्ध-मकरध्वज, मृगांक रस, लाक्षादि और भृंगराज तैल के गुणों का श्रवण किया; मधवार साहब से राजनीतिक और सामाजिक गुत्थियों का समाधान पाया, लेकिन कहीं भी मेरा मन नहीं टिका। उस तरह मैं कहीं न जा पाया जैसे नन्दलाल के यहाँ जाता था। मधवार साहब के यहाँ बौद्धिक भूख बहुत हद तक मिट जाती, उनकी बातें मन पर असर भी खूब करतीं, उनके प्रति मन में श्रद्धा भी ढेरों उपजती, पर जाने क्यों उनके यहाँ कुछ ऐसा रूखा-रूखा वातावरण मिलता कि मन आसूदा न होता।* तब भी मेरा अधिक समय वहीं कटता।

---

* मन न भरता, संतुष्ट न होता।

लेकिन तभी वह टूटा तार वाणी ने फिर जोड़ लिया......

खाना खाने के बाद एक शाम मैंने देखा कि जहाँ मैं खाना खाने बैठा करता था, वहीं पेंटरी पर वह रेडियो आ गया है जो देवा जी के कमरे में रखा रहता था। पेंटरी पर आगे सब्जी-तरकारी के डोंगे, रोटियों की चँगेर, थालियाँ, कटोरियाँ, चम्मच आदि पड़े रहते थे। इसलिए रेडियो पिछली मेजों के निकट रखा गया था। अभी मैं खाना खा ही रहा था कि वाणी खाने-वाने से निवट, थाली-वाली हमाम पर रख, हाथ-मुंह धोकर आ गयी। उसने रेडियो लगा दिया और दूसरे ही क्षण सहगल के सुरीले कंठ से निकला वही गान रात के सन्नाटे में गूंजने लगा—

सुनो सुनो हे कृषण काला।
आयी तेरे द्वार
सुनो मेरी पुकार
सुनो सुनो हे बाँसुरी वाला।

हाथ का कौर हाथ में ही रह गया। थाली वहीं सामने रखे, धड़कते दिल से साथ में वह गाना सुनता रहा। कब वाहर बूंदियाँ रिमझिमा उठीं, इसका भी पता नहीं चला। जब रिकार्ड खत्म हुआ तो बाहर ज़ोर से पानी बरस रहा था।

गाना खत्म होते ही दूसरा रिकार्ड बजने लगा। शमशाद बेगम ढोलक पर पंजाबी का गीत गा रही थी।

तभी वाणी मेरे पासवाली कुर्सी पर आ बैठी। "अब रेडियो यहीं रहा करेगा," उसने कहा, "आज 'लिसनर' में मैंने देखा कि आपके

प्रिय गाने का रिकार्ड बज रहा है, दार जी फ़ैसला कर चुके थे इसलिए रेडियो तो डाइनिंग हाल में आता ही, मैंने सोचा, क्यों न समय से आपको सुनवा दिया जाय?"

चुप रहना चाहता था, पर मुंह से निकल गया—"बड़ा ही आभारी हूँ!"

लेकिन दूसरे दिन से रेडियो वहाँ से उठ गया।

हुआ यह कि वर्षा के कारण वाणी वहीं बैठी रही। जिनके पास छाते और टार्च थे, वे तो चले गये, पर जिनके पास ये दोनों साधन नहीं थे, वे वहीं बैठे रेडियो सुनते रहे। घंटे-पौन घंटे बाद जब हरमोहन छाते और बरसातियाँ लिये हुए तीरथराम के साथ आया तो वाणी को मेरी मेज़ पर बैठे देखकर लाल-भभूका हो गया। "चलो, देर हो रही है, माता जी चिन्ता कर रही हैं," उसने कहा।

और वाणी चली गयी।......दूसरे दिन सुबह ही रेडियो खाने के कमरे के बदले ड्योढ़ी में था।

शिशिर के उन दिनों में, जब सूरज पाँच-साढ़े-पाँच बजे छिप जाता और छः बजे अँधेरा छा जाता, देवसैनिक साँझ प्रायः अपने घरों ही में गुज़ारते।.....देवा जी उन दिनों ठीक चार बजे लिखना बन्द कर देते। चाय पीने के बाद एक-डेढ़ घंटा सैर करते। सैर के समय उनके साथ बाहर से देवनगर देखने को आये हुए मेहमान या दूसरे दो-चार चापलूस रहते। देवा जी को अपनी आवाज़ बड़ी प्यारी लगती थी। वे सैर को जाते तो उनके सिवा कोई न बोलता। अपने बचपन के, या स्कूल-कालेज के दिनों के, या जहाज़ की यात्रा के, या विलायत के किस्से वे नित्य सुनाया करते। शुरू-शुरू में मैं भी

उनके साथ हुआ करता था और मैंने देखा था — कई वार वे भूल जाते थे कि वह किस्सा वे दो दिन पहले ही सुना चुके हैं और सुनने वाले भी लगभग वे ही पुराने लोग हैं।

उनके किस्से प्रेम के अधिकार के बारे में होते और उनका आग्रह रहता था कि अधिकार शरीर का नहीं मन का होना चाहिए। सफ़ाई के वारे में होते जो उनके विचार में सभ्यता की पहली शर्त थी। सच्चे धर्म, सच्ची मानवता, सहिष्णुता, स्वाभिमान, न्याय, सत्य, अहिंसा और दैनिक जीवन में आदमी को आगे वढ़ाने वाले गुणों के वारे में होते। इन्हीं सब के सम्बन्ध में दृष्टान्त-स्वरूप वे किस्से सुनाया करते। उनका सुनाने का ढंग ऐसा रहता कि उनके भक्त सदा किस्से के नायक से देवा जी का सम्बन्ध जोड़ लेते। एक वार मैं उनसे लेख लेने गुम्बद में गया। वे दफ़्तर में नहीं थे। कोई वड़ा अफ़सर आया हुआ था, जिसे वे देवनगर दिखाने ले गये थे। उनकी मेज़ पर एक अमरीकी पत्रिका खुली पड़ी थी। समय काटने के लिए उसे पढ़ने लगा। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जव मैंने वही किस्सा उसमें पढ़ा जो उन्होंने दो दिन पहले अपने नाम से सुनाया था और जिसे उनके भक्तों ने सुनकर शेष लोगों में चालू कर दिया था। दूसरे ही दिन से मैंने उनके साथ शाम की सैर को जाना वन्द कर दिया।

सैर से आकर देवा जी कुछ देर आराम करते। इतने में खाने की घंटी वज जाती। खाना खाने के वाद वे विस्तर पर लेटे-लेटे कुछ पढ़ते या अगर कुछ चापलूस आ इकट्ठे होते तो उनसे वातें करते। वातें करने का मतलव यह कि उन्हें अपने जीवन के किस्से सुनाते। जव तक रेडियो उनके कमरे में था, वे कभी-कभार कोई टॉक सुन लेते, लेकिन ड्योढ़ी में वे कभी नहीं गये।

......मधवार साहब शाम को अपनी बेटी को पढ़ाते थे या हरमोहनसिंह और देवा जी के चापलूसों की हरकतों से तंग आये मुलाज़िमों अथवा देवसैनिकों की शिकायतें सुनते और सत्य पर अड़े रहने, नैतिक बल पैदा करने, मीठे-मधुर शब्दों में लिपटे हुए झूठ को पहचानने, ख़ुशामद करके पेट भरने के बदले स्वाभिमान से भूखे रहने और ऐसे ही विषयों पर प्रवचन देते। देवा जी अपनी प्रेरणा यदि अंग्रेज़ी और अमरीकी मानववादी पत्र-पत्रिकाओं से लेते और वहीं से उद्धरण देते तो मधवार साहब गीता, उपनिषदों और महात्मा गांधी की जीवनी से दृष्टांत पेश करते। सुनने वालों में से कुछ दूसरे ही क्षण जाकर हरमोहन के कान भर देते और इस सेवा के बदले कोई छोटी-मोटी सुविधा प्राप्त कर लेते और कुछ उस मुलाक़ात के बाद घंटों जाकर सुलगते रहते।

इन दूसरी तरह के लोगों का तमाशा उस समय देखने को मिलता जब कोई बाहर से देवनगर देखने आता और दिखाने का काम उनके ज़िम्मे पड़ता। वे देवनगर की व्यवस्था, उसके बाह्य सौन्दर्य और कलाकारिता के अन्दर छिपी अपरूपता और अनगढ़ता की भरपूर निन्दा करते। सरगोशियों में—केवल सुनने वालों की हित-चिन्ता और लाभ के ख़याल से—उन्हें समझाते कि यह सब धोखा है, फ़रेब है, अपने संकुचित वातावरण से तंग आये हुए आदर्शप्रिय भोले-भाले लोगों को ठगने का साधन-मात्र है .... पर यदि ऐसे समय में कहीं देवा जी, हरमोहन या उनका कोई चापलूस सैनिक निकट से गुज़रता या इतने पास होता कि उनकी बातें सुन सके तो वे तत्काल किंचित ऊँचे स्वर में देवा जी की सूझ-बूझ और उनके आदर्शों की प्रशंसा शुरू कर देते .... "चौदह सौ रुपये," वे कहते, "चौदह सौ

रुपये में तो शहर में एक कमरा तक नहीं बनता, लेकिन देवा जी ने ये दसों कोठियाँ चौदह-चौदह सौ रुपयों में बनवा दी हैं, अभी ऐसी सौ कोठियाँ बनवाने का उनका इरादा है और वे चाहते हैं कि अपने समाज की संकीर्णता से तंग आये हुए मध्यवर्गीय यहाँ खुले वातावरण में आकर रहें और नये समाज की नींव रखें......" और जब सुनने वाले दूर निकल जाते तो वे स्वर को धीमा कर के फिर कहते, "ये ही धोखे की टट्टियाँ हैं, जिनके पीछे से देवा जी शिकार खेलते हैं। यहाँ एक फ़सील थी, उसकी ईंटों से ये कोठियाँ बनी हैं। दीवारों के बाहर एक ईंट पक्की है, अन्दर से सब कच्ची हैं। लीप-पोतकर सुन्दर बना दी गयी हैं। दो-तीन बरसात बाद मिट्टी नमक बनकर झड़ जायगी और यदि कोई गृह-स्वामी घर में न रहा और दो बरस बाद आया तो कोठी की जगह उसे मिट्टी का तोदा* मिलेगा। इस वीराने में कौन रहेगा, क्या खायगा, क्या काम करेगा....आप अभी ज़मीन न लीजिए, ज़मीन खरीदी तो आप फँसे, इसे कुछ बसने दीजिए....हम आपकी ही तरह यहाँ बड़े-बड़े सपने लेकर आये थे। सब मिट गये। हमारी तरह और भाई यहाँ न फँसें, इसलिए हम यहाँ बने हुए हैं......"

.....मघवार साहब के साथ पालासिंह आर्टिस्ट रहते थे। स्कूल की लड़कियों को वे अपने चित्रागार में ही पढ़ाते थे। देवनगर की राजनीति से उन्हें कोई सरोकार न था। 'काहू के लेने में, न काहू के देने में।' उनकी पत्नी और सुदर्शनसिंह स्वीप की बाजियाँ लगाते,

---

* ढूह

बच्चे कैरम खेलते और चित्रकार महोदय किसी काल्पनिक परी को तूलिका से कैन्वस पर उतारा करते।

......उनके बराबर की कोठी में इस जगह के भूतपूर्व स्वामी और जागीरदार (अब केवल एक देवसैनिक) पंडित हज़ारीलाल—मिश्र रहते थे। देवा जी पहले-पहल उनसे मिलने आये थे तो उन्होंने बड़े प्यारे-मीठे ढंग से मिश्र जी को विश्वास दिलाया था कि यह ज़मीन एक महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए चाहिए। ज़मीन का इससे अधिक अच्छा उपयोग हो नहीं सकता और स्वयं मिश्र जी को इस महान कार्य में देवा जी के साथ रहना चाहिए। वे इस बात की व्यवस्था कर देंगे कि पंडित हज़ारीलाल मिश्र और उनके बच्चे देवसेना के आजीवन सदस्य बने रहें—मिश्र जी उस समय पिये हुए थे। अपने वंश की दरियादिली का बखान करते हुए उन्होंने बड़े सस्ते में ज़मीन देवा जी को दे दी और लालपरी की संगति में उनका और भी ज़्यादा वक्त गुज़रने लगा। दिन में वे कुछ देर के लिए नाम को दफ़्तर में बैठते, कुछ काम-वाम भी देखते, पर शाम को घर में बोतल खोलकर बैठ जाते। अधिक पी लेते तो ज़ोर से चिल्लाते कि उन्हें लूट लिया गया है, देवनगरियों ने उनकी सोने-सी धरती कौड़ियों के मोल उनसे छीन ली है और गालियाँ बकते। जब उनका नशा उतर जाता तो हरमोहन उन्हें डाँटता कि देवा जी उन्हें दया करके रखे हुए हैं, नहीं क़ानून के अनुसार उनका कोई हक़ नहीं, वे यों बकेंगे तो मंडल उन्हें निकाल देगा। तब वे अगले दो-चार दिन शाम को वहाँ पीने के बदले पत्थरचट्टी और गोरेशाह चले जाते और कभी एक की और कभी दूसरे की नालियों में, नशे में धुत्त, बेहोश पड़े मिलते।

...... रहे ज्ञानी दिलावरसिंह, खोसला साहब और हरमोहन इत्यादि, तो सेक्रेटरी होने के नाते (उन्होंने फिर अपना पुराना पद पा लिया था) ज्ञानी जी या तो देवा जी की चापलूसी में लगे रहते या फिर अपनी कोठी में बैठे, अपने गुरु के पद-चिह्नों पर चलते हुए बिल्कुल उन्हीं की तरह प्रेस के मुलाज़िमों, ठेकेदारों और दूसरे नौकर-पेशा भक्तों के सामने अपने किस्से सुनाते और प्रवचन देते, और कभी जब वे हँसते तो अपने इर्द-गिर्द बैठने वालों की बग़लों में हाथ देकर ट्यूब-वेल से भभकों में निकलने वाले जल की तरह ठहाके लगाते। इन ठहाकों के मध्य विराम-स्वरूप ऐसे झटके देते कि भक्तों को अपनी बाहें स्कंध-मूलों से उखड़ती दिखायी देतीं। खोसला साहब आयुर्वेद का उद्धार करने, मुफ़्त दवा बाँटने और आयुर्वेद की महिमा से अज्ञ देवनगरियों को विज्ञ बनाने के शुभ काम में निरत रहते और हरमोहन और उनके साथी एक दूसरे के घर चाय उड़ाते, रमी और ह्विस्ट-ड्राइवों की व्यवस्था करते और मौज मनाते।

शिशिर की उन शामों में ड्योढ़ी और भी सर्द हो जाती। पूरब-पच्छिम बड़े-बड़े महराबदार दरवाज़े, उत्तर-दक्खिन खिड़कियाँ और सीमेंट का फ़र्श, हवा बेरोक-टोक आती और फ़र्श यख हो जाता। उस सख़्त सर्दी में अपने आरामदेह कमरों को छोड़कर ड्योढ़ी में रेडियो सुनना देवनगरियों के बस की बात न थी। कभी कोई प्रेस का मुलाज़िम जिल्द या प्रकाशन-विभाग का कोई कर्मचारी, बस का ड्राइवर या क्लीनर और इसी तरह का कोई व्यक्ति रेडियो सुनने या लाइब्रेरी में (ड्योढ़ी में एक ओर को बड़ी मेज़ पर कुछ समाचार पत्र और देववाणी के ताज़ा अंक पड़े रहते और वह मेज़ लायब्रेरी कहाती थी।) कोई पत्र-पत्रिका पढ़ने आ जाता।

दूसरी शाम जब मैं खाना खाकर लंगर से बाहर निकला तो सोचने लगा कि किधर जाऊँ। आकाश पर बादल घिरे थे, अँधेरे में सैर करना कठिन था। नन्दलाल के घर जाने को मन था, पर वह सप्ताह भर की छुट्टी लेकर बीवी-बच्चों समेत बाहर गया हुआ था और खाना खाते ही जाकर लेट रहने या लिखने-पढ़ने को मेरा मन न हो रहा था। इसी असमंजस में खड़ा था कि वाणी ने आकर अपनी दो सहेलियों से मेरा परिचय कराया। ड्योढ़ी की ओर चलते-चलते उसने बताया कि उनके माता-पिता ने देवनगर में ज़मीन खरीदी है, बड़ी कोठियाँ बनायेंगे और वे अभी कुछ दिन को आयी हैं, जब उद्घाटन के बाद स्कूल बाक़ायदा चलने लगेगा तो नये सेशन से वे पढ़ने लगेंगी। उसने मेरा परिचय भी दिया। मेरे कण्ठ और मेरे स्वभाव की बड़ी प्रशंसा की और जब ड्योढ़ी के निकट पहुँचकर मैं अपनी कोठी की ओर मुड़ने लगा तो उसने बड़े अरमान भरे स्वर में कहा, "ड्योढ़ी में न बैठिएगा संगीत जी कुछ मिनट के लिए!"

"नहीं मैं चलूंगा।"

"आइए न, पाँच-सात मिनट बाद चले जाइएगा!" और उसने मेरा हाथ ज़रा सा खींचा।

पहली बार उसकी नर्म-नर्म, ठंडी, यख अंगुलियाँ रात के उस अँधेरे में मेरे हाथ से छुईं। उस ठंडे परस में न जाने कौन सी शक्ति थी कि एक मीठी-सी गर्म सिहरन मेरी नसों में दौड़ गयी। चाहने पर भी मैं आगे न जा सका।

हम ड्योढ़ी में एक बैंच पर बैठ गये। वाणी ने आगे बढ़कर रेडियो लगा दिया। कोई महाशय अटक-अटक कर तक़रीर कर रहे थे। सामने लिखा शायद साफ़ न था, या उनकी पहली-पहली तक़रीर

थी, गला उनका सूखा जा रहा था, चार सतरें पढ़ने पर हकला जाते थे—वाणी ने स्विच घुमा दिया। रेडियो बन्द हो गया। वह मेरे निकट आ बैठी।

कुछ क्षण सन्नाटा-सा छाया रहा। बाहर डयोढ़ी के दरवाजे के सामने से कोई छाया गुज़र गयी।

तब बड़े संकोच से—इस प्रयास में उसका मुख तक सफ़ेद हो गया—वाणी ने कहा कि उसकी सहेलियों की बड़ी इच्छा है कि मैं एक......

मैं न जाने दरवाज़े के बाहर उस छाया के गुज़र जाने के कारण, या वाणी के यों मुझे बरबस वहाँ ले जाने के कारण, या न जाने किस कारण खीज उठा था। उसने बात खत्म भी न की थी कि मैं बोल उठा, "मेरी तबीयत ठीक नहीं!"

वाणी का मुँह और भी उतर गया। वह कुछ बोली नहीं। उसने अपनी उन्हीं बड़ी-बड़ी उदास आँखों से मेरी ओर देखा, जैसे कह रही हो, "मैं आपको तंग नहीं करना चाहती, पर यहाँ रुकने का मेरे पास कोई बहाना नहीं, आप क्रोध न कीजिए, मैं चली जाती हूँ।" और दोनों हाथ माथे की ओर ले जाते हुए वह चलने लगी।

तब न जाने मन कैसा हो आया। मैंने हाथ बढ़ाकर उसे रोक लिया। "आप नाराज़ हो गयीं, मेरी तबीयत सचमुच ठीक नहीं।"

निमिष भर को वे बड़ी-बड़ी पनियारी* आँखें मेरी ओर उठीं। गैस की रोशनी में उनमें छलछलाये आँसू चमक उठे। दूसरे क्षण

---

* पनीली। सजल

उन्हें दूसरी ओर हटाते हुए उसने कहा, "जभी तो जा रही हूँ। आप आराम कीजिए।"

मैंने बरबस उसे फिर बैठा दिया और उसके साथ ही उठ जाने वाली उसकी सहेलियों से क्षमा माँगते हुए मैंने कहा, "आप माफ़ कीजिएगा, मेरी तबीयत ठीक नहीं थी, आप बैठिए, मैं सुनाता हूँ।"

और मैं गाने लगा। दरवाज़े के बाहर किसी आकुल प्रेतात्मा की तरह वह छाया बराबर चक्कर लगाती रही। वाणी और उसकी सहेलियाँ और समाचार पढ़ते हुए दो-एक व्यक्ति एक-टक मेरी ओर देखते रहे और मैं गाता रहा।

अपने कमरे के एकांत में जब मैं सोचता तो मुझे बड़ी खीझ होती कि मैं क्यों वाणी के सामने अशक्त हो जाता हूँ, उसकी ओर न देखने के मेरे सारे इरादे, उससे बात करने का अवसर न आने देने के मेरे सारे संकल्प क्यों हवा हो जाते हैं? वह कोई अनिन्द्य सुन्दरी नहीं, मेरी पत्नी के मुक़ाबले में तो वह कहीं भी नहीं ठहरती, फिर क्यों वह मुझे आकर्षित करती है? यदि मैं वाणी की ओर बिल्कुल देखना बन्द कर दूँ तो वह मेरी ओर कैसे देखेगी? जब मैं उधर आँखें उठाऊँगा ही नहीं तो उसकी आँखें कैसी मेरी आँखों से चार होंगी। दो आँखें एक ओर देखती रहें तो अपने ही से तो चार न हो जायँगी। चार होने के लिए चार ही आँखों की जरूरत है। और मैंने फ़ैसला कर लिया कि डाइनिंग हाल में उसकी ओर बिल्कुल न देखूंगा।

......मैं न देखता। चुपचाप नीची निगाहें किये खाना खाता, लेकिन बहुत देर तक उधर न देखने से मैं समझ लेता कि अब वह मेरी

ओर नहीं देखती (या जिज्ञासा होती कि देखूं वह देख रही है कि नहीं) और में मुड़ता और हमारी आँखें चार हो जातीं।

......कभी मैं विल्कुल उधर न देखता, दूसरी ओर को मुंह किये तना बैठा रहता, या किसी साथी से वातें करता, लेकिन लगता जैसे मेरी कनपटी में वड़ी-वड़ी दो आँखें छेद करके दूसरी ओर निकल जायँगी और मैं मुड़ता और मेरी आँखें उन आँखों से चार हो जातीं।

अपने कमरे के उस एकान्त में मेरी पत्नी का चित्र मेरी आँखों के सामने घूम जाता और मैं खीझ उठता कि क्यों यह ज़रा-सी दो बित्ते की बीमार-बीमार-सी लड़की बरमे सरीखे मेरी सोच तक में छेद किये जा रही है। जब-तब मैं उसके वारे में सोचने लगता हूँ और मैं फिर अनजाने अपनी स्वर्गीया पत्नी से उसकी तुलना करता और मुझे लगता कि मैं झख मार रहा हूँ। शांति की खोज में देवनगर आकर अशांति मोल ले बैठा हूँ और मुझे देवनगर छोड़कर शहर चले जाना चाहिए। खुले वातावरण में, सख्त किस्म के काम में अपने-आपको लगा देना चाहिए, जिससे मैं इतना थक जाऊँ कि रात को सोऊँ तो न पित्तो के वारे में सोचूं और न वाणी के वारे में और पत्थर की तरह पड़ जाऊँ! .....एक दिन इसी तरह की उलझन में मैं देवा जी के पास फिर गया और बोला—"मैं जाना चाहता हूँ!"

उन्होंने समझा, मैं छुट्टी जाना चाहता हूँ, बोले—"कितने दिन के लिए, यहाँ पाँच अप्रैल को प्रैक्टिकल स्कूल का उद्घाटन होने वाला है, तव तक......"

"जी नहीं, मैं जाना चाहता हूँ!"

देवा जी चुपचाप मेरी ओर देखते रहे।

"जी, मेरा दिल यहाँ नहीं लगता। मन भी अशांत रहता है। आप जानते हैं, मैं शांति की खोज ही में आया था।"

"दिल तो भाई लगाने से लगता है, और मन की शांति भी बाहर से नहीं मिलती," उन्होंने कहा, "शांति को अपने अन्दर खोजना पड़ता है। अपने आस-पास के जीवन को साफ़, स्वच्छ, सम्पन्न और खुशहाल रख के हासिल करना होता है। दूसरों की खुशी-ग़मी में हिस्सा लेना सीखो, तुम्हारा मन लग जायगा।" और उन्होंने बताया कि देवनगर में बिजली न होने से सर्दियों की शामें बड़ी लम्बी हो जाती हैं, अँधेरा पाख तो और भी तकलीफ़देह होता है। जहाँ सर्दियाँ गुज़रीं, बहार आयी, दिन बड़े हुए कि मन आपसे-आप लग जायगा।

कुछ क्षण चुप रहकर उन्होंने कहा, "और कहीं मन न लगे तो हमारे यहाँ आ जाया करो। किताबें पढ़ो, बातें करो, वाणी को भी गाने का बड़ा शौक़ है, मधु भी सीख रही है, कुछ उन्हीं से सुनो-सुनाओ। बसन्त के बाद दो महीने भी देख लो। स्कूल का उद्घाटन भी हो जायगा। तब मन न लगे तो चले जाना। देवनगर से और शिकायतें चाहे हों, पर मन न लगने की शिकायत कभी किसी ने नहीं की।"

और मैं चला आया था और वाणी का मेरा सम्बन्ध पहले-जैसा चल रहा था। न बहुत दूर, न बहुत निकट। रास्ते में आते-जाते, रेडियो के पास बैठे, रविशों पर सैर करते, वाणी नवी की बात पूछ लेती। नवी कैसी प्रगति कर रहा है, यह बताने के बहाने वह क्षण भर रुक जाती और अपनी निगाहों को मेरे अन्तर में दूर तक उतार देती। बातें करते-करते उसका रंग उड़-उड़ जाता, डरी हुई हिरनी सी वह चौंक-चौंक जाती और ज्योंही उसे हरमोहन या तीरथराम दिखायी

देता वह चल देती और वह संक्षिप्त-सी निरर्थक मुलाक़ात अपने पीछे ढेर सी मिठास छोड़ जाती।

जब मैंने इस आकर्षण पर और भी विचार किया तो पाया कि इस आकर्षण की तह में तीन-चार बातें काम करती हैं—देवनगर के अनुपम सौन्दर्य के बावजूद उसकी वीरानी, मेरा अकेलापन और तीरथराम की ईर्ष्या। ......इस अन्तिम बात ने वास्तव में उस हलकी-सी जिज्ञासा को, जो मुझे तीरथराम की प्रेयसी को जानने के बारे में हुई थी, इस आकर्षण में बदल दिया था।

तीरथराम की ईर्ष्या दिनों-दिन बढ़ रही थी और हरमोहन का विरोध भी, शायद इसीलिए वाणी मेरी ओर अधिकाधिक खिच रही थी। वह मुझे देखने के, मुझसे मिलने के, मुझसे (कितनी भी संक्षिप्त क्यों न हो) बात करने के बहाने ढूंढ़ लेती थी।

इसी बीच में एक और बात हुई, जिससे मेरा सन्देह विश्वास में बदल गया।

हुआ यों कि देवा जी ने मुझे एक दिन बुलाया और पूछा कि क्या मैं हिन्दी जानता हूँ?

"जी!" मैंने उत्तर दिया।

"मैं चाहता हूँ कि अपनी कहानियों का संग्रह हिन्दी में प्रकाशित करूँ।"

"जी!"

"आप ज़रा कुछ कहानियाँ करके दिखाइए, अच्छी हुईं तो छाप देंगे।"

और मैं चला आया। लेकिन जब मैं हिन्दी में उन्हें करने लगा तो मुझे बड़ी कठिनाई पड़ी। मैं इलाहाबाद में पढ़ा था और हिन्दी मैंने सीखी भी थी, पर तब इलाहाबाद क्या और लखनऊ क्या—सब जगह उर्दू का ज़ोर-शोर था— उर्दू मेरी अच्छी थी और हिन्दी उतनी अच्छी न थी। तब मैंने सोचा कि तीरथराम से क्यों न मदद ले लूं। वह आर्यसमाज के स्कूल में पढ़ा था। हिन्दी में कविता करता था, संस्कृत भी उसने पढ़ी थी। यह ठीक है उसके और मेरे सम्बन्धों में कुछ खिचाव था, पर यह काम मेरा तो था नहीं, देवा जी का था—और मैंने उससे मदद लेने का निश्चय कर लिया। लेकिन तीरथराम के पास जाने से पहले मैंने हरमोहन से मिलना ज़रूरी समझा। उससे कहा, "देवा जी ने मुझे कुछ कहानियाँ हिन्दी में करने को दी हैं, मैं कर रहा हूँ लेकिन कहीं-कहीं कठिनाई पड़ रही है। शब्द-कोश यहाँ है नहीं, आप ज़रा तीरथराम से कह दीजिए कि वह मेरी मदद कर दे!"

हरमोहन क्षण भर मेरी ओर देखता रहा, फिर उसने कहा—"आप उससे मेरा नाम लेकर कहिएगा, वह फ़ौरन कर देगा।" फिर क्षणभर रुक कर उसने कहा—"मैं भी उससे कह देता हूँ।"

दोपहर के बाद मैं तीरथराम के यहाँ गया। मैंने उससे कहा कि ज़रा उसकी मदद की ज़रूरत है। हरमोहन का नाम लेकर मैंने उसे स्थिति समझा दी।

"कविता करना और है और अनुवाद करना और," तीरथराम

बोला—"हरमोहन मुझसे मिले थे, मैंने उनसे भी कह दिया था कि अनुवाद मेरे बस का नहीं।"

"आपको ज़रा भाषा ही देखनी है। अनुवाद तो मैंने कर लिया है।"

वह अडिग रहा।

मन-ही-मन बड़ा क्रोध कर मैं मुड़ने लगा था कि उसने कहा—"यदि वाणी कह दे तो मैं कर दूंगा, बल्कि आप चाहेंगे तो मैं सारी कहानी स्वयं कर दूंगा।"

"सारी कहानी करने की ज़रूरत नहीं, कहानी तो मैंने कर रखी है, आपको सिर्फ़ मेरे साथ देख भर लेनी है।"

"वाणी कहे तो......"

"पर वाणी से इसका क्या सम्बन्ध?"

"सम्बन्ध क्या होगा, पर वह कहे तो मैं कर दूंगा।"

"यह काम देवा जी का है।"

"पर मेरा नहीं। मैं देवसैनिक हूँ, नौकर नहीं। देवा जी कहेंगे तो मैं कह दूंगा, मुझे हिन्दी नहीं आती।"

और वह उद्दण्डता से हँसा।

क्रोध से लाल हो मैं धड़धड़ाता चला आया।

शाम को वाणी मिली तो मैंने उससे इस बात का ज़िक्र किया—"तीरथराम ने क्यों यह कहा?" मैं बोला, "यह मैं नहीं जानता, पर अच्छा काम हो जाय, इसकी मुझे चिन्ता है; यदि उचित समझो तो उससे कह देना।"

"तीरथराम गुण्डे हैं!" सहसा वाणी ने दाँत पीसते हुए ओठों में कहा।

वह गुण्डा कैसे है? यह बात मैं उससे न पूछ सका, क्योंकि वह तत्काल चली गयी। पर देवनगर के वातावरण में, शिष्ट पिता की छाया-तले पली उस लड़की के मुँह से एक देवसैनिक के प्रति क्यों गाली निकल गयी, तीरथराम में और उसमें क्या बात हुई है, इसपर मैं घण्टों सोचता रहा....शायद इसी कारण वह नन्हीं-सी बीमार-बीमार, बड़ी-बड़ी आँखों वाली लड़की मेरी सोच में खुबती चली गयी।

जाड़े की वह तीखी लहर जैसे ज़ोर के कुछ चक्कर खाकर निकल गयी। धरती ने शूल के उस रोगी-सी आराम की साँस ली, जिसकी पीड़ा लहरें खाकर धीरे-धीरे मन्द पड़ गयी हो। दिन बड़े होने लगे, किचन के सामने लगे अनार के सूखे पौधों में अंकुर आ गये थे। कार्तिक में बोयी गेहूँ बालियाँ ले आयी, सरसों की पीली चुनरी लहरा उठी। बरसात के अधिक दिन तक अटके रहने के कारण हवा में चाहे ठण्डक थी, पर शिशिर की वह घुटन, वह सीलन खत्म हो गयी थी। धरती जैसे अँगड़ाई लेकर जाग उठी थी और सुबहें और शामें अकथ उदासी के बदले एक नयी उमंग से मन-प्राण भरने लगी थीं। मैंने शाम को नन्दलाल के यहाँ जाना या ड्योढ़ी में बैठना छोड़ दिया और नहर पर, पश्चिम के ऊसर में योगी-से खड़े विराट बरगद के नीचे अथवा किसी निकटस्थ गाँव में जाने लगा।

देवनगर के उस प्रवास में, वहाँ की सुबह-शामों से मेरा घनिष्ट नाता रहा था। उस वीराने के एकाकी दिनों में सुबह-शाम की उन तन्वंगियों ने मेरा खूब साथ दिया और उनके अंग-प्रत्यंग के हर शृंगार और उनकी प्रत्येक भावभंगी से मैं परिचित हो गया था।

......आखिरी बरसात की वे सुबहें मेरे मानस पट पर अंकित है, जब बरस चुकने के बाद स्वप्न सी सुकुमार धुंध खेतों पर छायी होती और अरुणा संतरी रंग की साड़ी पहने प्राची के सिंहासन पर आ विराजती.....और शामें जो ऊसर की उन खजूरों के पीछे से सेंदूरी सुधा लुटातीं तो नीले-नीले बादल जैसे सुधा-पान को लालायित क़तार-दर-क़तार आ खड़े होते। पर वे चिर-चंचल मदमातियाँ, उनके सिरों के ऊपर सुधा लुटाती हुई, दूर पूरब के प्यासों तक पहुँचा देतीं और सेंदूरी सुधा की उस वर्षा से सारे आकाश की नस-नस में जैसे नशे की लाली दौड़ जाती।

......शीतारम्भ के दिनों की मुझे याद है, जब आग की लपट ऐसी आभा लेकर सुबहें जगतीं तो उनकी द्युति पूरब के नीले बादलों तक को तपा देती और जब दिन ढलता तो सूर्यास्त से पहले क्षितिज के नीले बादलों में सफ़ेदी छा जाती और उसमें अपनी किरमिज़ी आँखें फटफटाकर सूरज ओझल हो जाता। आकाश में जहाँ-जहाँ बादल होते, पहले किरमिज़ी, फिर संतरी, फिर पीला सा रंग काफ़ी देर तक रहता। फिर जब सारा आकाश तिमिराछन्न हो जाता तब भी वह उजली-उजली सफ़ेदी पश्चिम में बड़ी देर तक उस जगह छायी रहती, जहाँ सूरज ओझल हुआ था। लगता जैसे साँझ अब भी सूरज की बाट देख रही हो कि वह फिर आयेगा......फिर आयेगा ....और उस जगह से हटने का नाम न लेती हो।

......और गहरे शीत में जब संतरे और सेंदूर में स्वर्ण आ मिलता तो सुबह की तन्वी सोना लुटाती रहँट के बरगद के पीछे से उठती। रहँट के गिर्द बैलों के चलने से जो धूल उड़ती, वह एकदम सुनहरी भाप-सरीखी दिखती और बहते बरहों में जहाँ-जहाँ उसकी

किरणें पड़तीं, पानी पिघला सोना दिखायी देता। और शाम को कभी जब पश्चिम का क्षितिज कुछ साफ़ होता और बादल बरगद पर छाये होते, उस समय डूबते सूरज की गहरी लाल रोशनी छन-छन कर वट के घने पत्तों से आती और ऐसा लगता, जैसे पिघले हुए सोने का समुद्र ठाठें मारता हुआ, उस विराट बरगद तक आता है, पर उसे पार नहीं कर पाता।

प्रातः उठते ही मैं सदा अपने बराम्दे में आ जाता और प्राची के सिंहासन पर विराजने वाली अरुणा का स्वागत करता और दिन ढले नहर पर या ऊसर में या बरगद के नीचे जाकर शाम को विदा कर आता। वाणी मेरी इस आदत को न जाने कब जान गयी थी, उन सुबह-शामों में (अपनी बहन या सहेलियों या दिलजीत या ममी और पापा के साथ जाते हुए) उसकी एक-न-एक झलक मुझे अवश्य मिल जाती और शायद इसीलिए वे सुबहें-शामें और भी रंगीन और मादक हो जातीं।

लेकिन यह तो मैं अब सोचता हूँ। उस समय तो वह जितना मेरी ओर खिंचती, मैं उससे भागने की कोशिश करता। मैं एक विधुर परदेशी और वह एक नन्हीं कुमारी, जिसकी माँ, जिसके भाई और दूसरे रिश्तेदार मेरे विरुद्ध! उसमें और मुझमें कैसी ममता? कैसा स्नेह? मोह का वह जाल जितनी जल्दी टूट जाय उतना ही अच्छा। 'देवनगर में कोई स्वाभिमानी नहीं रह सकता,' मघवार साहब की इस बात से मैं सहमत था और चाहे मैं वहाँ रहता था, काम करता था, पर मैंने अपना मन वहाँ से उठा लिया था। मेरा मन वहाँ से समूचा उठ जाय, उसका कोई भाग वहाँ पड़ा न रह जाय, मैं इसका खयाल रखता था और इसलिए जब बहार की उन शामों में मैंने फिर सैर

के लिए जाना शुरू किया तो इस वात का खयाल रखा कि मैं जिस ओर एक दिन जाऊँ, उधर दूसरे दिन न जाऊँ, और यों वाणी से मिलने के अवसर कम-से-कम हो जायँ, उसका मोह भंग हो जाय और वह मेरा खयाल छोड़ दे।

कुछ दिन लगा कि शायद मैं सफल हो गया हूँ। अपने उस हठ पर खेद भी हुआ, उदासी भी हुई, पर मन को कुछ शांति भी मिली। बेचैनी के उस हलके-से अहसास के वावजूद जो उन वड़ी-वड़ी आँखों को न पाने से हुआ, कहीं गहरे में यह भी लगा कि मैंने ठीक रास्ता अपनाया है। इस मोहजाल को तोड़े विना कोई चारा नहीं।

लेकिन तव वाणी बच्चों को लेकर ड्योढ़ी की छत पर जाने और यह देखने लगी कि मैं किस ओर सैर को जाता हूँ। फिर साथ में टीचर को लेकर बच्चों को सैर कराने के वहाने वह भी उधर ही को चल पड़ती। वापसी पर जरूर ही मेरा उससे साक्षात्कार हो जाता। जहाँ मैं मिलता, प्रायः वहीं से वह किसी-न-किसी वहाने पलट जाती। मेरे आगे-आगे अथवा मेरे पीछे-पीछे वह बच्चों से, सहेलियों से या अध्यापक जी से बातें करती हुई आती। उसके नन्हें-नन्हें ठहाकों की घंटियाँ बरावर मेरे कानों में वजती रहतीं। उसकी निगाहें अपने अदृश्य जाल मेरे गिर्द बुनती रहतीं और मैं सोचता—'मैं देवनगर से जा भी सकूंगा, इन जालों से निकल भी सकूंगा?'

अव सोचता हूँ तो पाता हूँ कि उस दिन जव मैंने देवा जी से कहा था, मैं जाना चाहता हूँ तो यदि मैं उनकी वातों के जादू में आकर वहाँ बने रहने के बदले चला जाता तो वहुत ही अच्छा होता। तव शायद मुझे या वाणी को वैसी यन्त्रणा न सहनी पड़ती।



पांच अप्रैल को स्कूल का उद्-घाटन और देव-सम्मेलन होने वाला था, पर देवनगर में कई दिन पहले से ही तैयारियाँ शुरू हो गयी थीं। प्रैक्टिकल स्कूल का भवन अभी पूरा तो क्या आधा भी न बना था। देवा जी की कोशिश थी कि सम्मेलन के अवसर पर कम-से-कम भवन इतना बन जाय कि देखने वालों के सामने उसकी रूप-रेखा स्पष्ट हो सके। बनने पर उसकी शक्ल अंग्रेज़ी के उलटे 'वाई' अक्षर सरीखी होती। देवा जी चाहते थे कि सामने का भाग याने दो विंग बन जायें, ताकि सम्मेलन में आने वालों को उसकी भव्यता का कुछ आभास मिल सके। नन्दलाल उन दिनों प्रातः से सायं तक व्यस्त रहता। शाम को आता तो इतना थका रहता कि उसे मोज़े उतारना

और हाथ-पैर धोना भी दुष्कर लगता। वह धप्प से ज़मीन पर बिछे जाजम पर बैठ जाता, मोज़े उतार एक ओर फेंक देता और कम्बल ओढ़कर लेट जाता और सो जाता। सावित्री अँगूठे और अँगुली की चोंच बनाकर, मरे हुए चूहों की तरह, उन मोज़ों को उठाती और खदबदाती हुई उन्हें गुसलखाने के कोने में फेंक, साबुन से हाथ धो लेती। नन्दलाल लंगर में खाना तक खाने न जाता। सावित्री वहीं ले आती और उसे उठाकर बच्चों की तरह खाना खिला और कपड़े बदलवा कर सुला देती।

बाहर के लोग सम्मेलन में शामिल होने के बारे में पूछताछ कर रहे थे। देवसैनिकों के कुछ सगे-सम्बन्धी आ भी गये थे। इसलिए तीरथराम आवभगत में और हरमोहन आने वाले लोगों के लिए चाय, दूध, नाश्ता और खाने-पीने की व्यवस्था में लगा हुआ था।

ज्ञानी दिलावरसिंह के ज़िम्मे, आनेवालों को देवा जी के बदले देवनगर की सैर कराने और देवमण्डल के सपने और सिद्धान्त समझाने का काम था। देवा जी केवल विशिष्ट व्यक्तियों को स्वयं देवनगर दिखाते, बाक़ी लोगों को ज्ञानी जी सम्हालते।

पालासिंह आर्टिस्ट थे, इसलिए उनके सिर पर देवनगर और सम्मेलन- स्थल को कलापूर्ण ढंग से सजाने का काम था। कोठियों के आगे मेंहदी की ऊँची-ऊँची बाड़ें इस प्रकार काटी गयी थीं कि उनमें छोटे-छोटे महराब बन गये थे। हर कोठी के बरामदे में गमले रखवा दिये गये थे। किचन को जाने वाली रविशों की बाड़ें बड़े अच्छे ढंग से छटवा दी गयी थीं। गड़हे भरवा दिये गये थे। स्कूल का गेट बड़े ही कलापूर्ण ढंग से बनाया जा रहा था और उसपर सरदार पालासिंह आर्टिस्ट के आर्ट की स्पष्ट छाप थी।

स्कूल के सेक्रेटरी की हैसियत से, अपने तमाम मत-भेदों के बावजूद, मघवार साहब अध-बने कमरों की लीपा-पोती के बाद, उन्हें सँवारने- सजाने और उनकी सूरत निकालने में निमग्न थे। "बच्चों को पीटना उनकी आत्मा को हमेशा के लिए कुचल देना है।"... "बच्चों की समझ का इलाज करने से पहले अपनी समझ का इलाज कीजिए!"... "उलझे दिमाग़ बच्चे ही नहीं होते, माँ-बाप भी होते हैं।"... "अपनी रुचि बच्चे पर न लादिए,"... "बालक मानव का पिता है,"... और ऐसे ही दसियों आदर्श-वाक्य लाल कपड़ों पर स्वर्ण-रजत अक्षरों में लिखे विभिन्न कमरों की दीवारों और सभास्थल के बरामदों में चमचमा रहे थे। एक विंग में क्लासें थीं, दूसरे में अमली शिक्षा के लिए खड्डियों, बढ़ईगीरी, चित्रकारी, बच्चों के अपने बैंक, डाकखाने और कोआपरेटिव स्टोर का प्रबन्ध था। कमरों के बाहर सुन्दर अक्षरों में उनके नामों की तख्तियाँ लिखवाकर टँगवायी जा रही थीं। धरती क्योंकि ऊसर थी, इसलिए नहर से मिट्टी मँगा कर स्कूल के बाहर के अहाते में फूलों की रविशें बना दी गयी थीं। सुबह से शाम तक, गहर-गम्भीर बने मघवार साहब इस सब व्यवस्था में निरत रहते थे।

अध्यापक लोग इस विराट प्रदर्शन के लिए दर्शनीय छात्र तैयार करने में लगे थे। देवा जी चाहते थे कि जब सम्मेलन हो तो दर्शकों को लड़के बैंक और खड्डियों आदि में काम करते दिखायी दें। इसलिए जल्दी-जल्दी कुछ लड़के तैयार कर लिये गये थे। बच्चों का छोटा-सा बैंड भी तैयार किया गया था, जिन्हें किसी-न-किसी तरह अभियान-गान की एक धुन सिखा दी गयी थी। कोठियों के सामने ऊसर में धरती समतल करके एक ग्राउण्ड बना दी गयी थी। लड़कों

के लिए हॉकियाँ आ गयी थीं। शाम को वहाँ खेल होता। सुबह बाक़ायदा कवायद होती। दो-तीन बार बड़े लड़के गाँवों में जाकर बेलन पर गन्ने को पेरे जाते और बड़े-बड़े कड़ाहों में गुड़ बनते देख आये थे। इन सब बातों के सम्बन्ध में अध्यापकों ने उन्हें बड़े सुन्दर नोट लिखा दिये थे और वे सब कापियाँ प्रदर्शनी के लिए रख दी गयी थीं। ड्राइंग और किंडर-गार्टन के कमरों की दीवारों पर श्री पालासिंह आर्टिस्ट की सहायता से बच्चों के बनाये चित्र टाँग दिये गये थे, जिनमें बच्चों का प्रयास कम और श्री पालासिंह का ज्यादा था। इनमें एक चित्र रामाथापा के बच्चे का भी था। चित्र और रामा-थापा का बच्चा दोनों सम्मेलन की दर्शनीय चीज़ें थीं और अध्यापकों को आदेश था कि उन दोनों की ओर आने वालों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करें!

उन दिनों नबी की भी बड़ी पूछ थी। उसे राजगीरी का काम आता था। उसने पुरानी फ़सील की बची-खुची छोटी-छोटी ईंटों की मदद से प्रैक्टिकल स्कूल का एक आदम-क़द मॉडल बाहर स्कूल के अहाते में बना दिया था। जो भी व्यक्ति देवनगर आता उसे प्रैक्टिकल स्कूल, उसके बच्चों की सरगर्मियाँ, रामा थापा के बच्चे की तस्वीर, नबी का मॉडल और साथ ही उन दोनों बच्चों को भी दिखाया जाता।

देवा जी ने इस अवसर के लिए विशेष रूप से कुछ लेख लिखे थे, जिन्हें वे ट्रैक्टों के रूप में हिन्दी, उर्दू और गुरमुखी-तीनों भाषाओं में छपवाना चाहते थे। उन सारे लेखों का एकमात्र उद्देश्य यह था कि देवमण्डल के अनुयायी और 'देववाणी' के पाठक धड़ाधड़ अपने बच्चों को प्रैक्टिकल स्कूल में भरती करायें, कि इसी में उनकी निष्कृति

है। इन लेखों को उर्दू-हिन्दी में करने का काम मुझे सौंपा गया। और मैं दिन-रात उनका अनुवाद करने में संलग्न रहने लगा।

एक नम्बर की कोठी के बड़े हिस्से में एक नये देवसैनिक, जो नये-नये वकील हुए थे, आ गये। देवमण्डल की क़ानूनी सरगर्मियों का काम उन्हें सौंपा गया था। उनके विवाह को पाँच साल हो गये थे, पर उनके कोई बच्चा न हुआ था और उनकी पत्नी की आँखों में सब के लिए उत्साह उमड़ा पड़ता था। न जाने क्यों, मेरा वहाँ रहना उन्हें अच्छा न लगा। तीरथराम और हरमोहन ने आते ही उन्हें अपने स्नेह की छाया में ले लिया। एक दिन देवा जी ने कहा कि मैं ज्ञानी दिलावरसिंह के यहाँ उठ आऊँ, क्योंकि नैनिहालसिंह—यही उन नये वकील साहब का शुभ नाम था—चाहते हैं कि तीरथराम उनके निकट रहे। वे नये-नये देवसैनिक बने थे। उनके पिता ने दो कोठियों के लिए ज़मीन देवनगर में खरीदी थी। उनकी दो बहनें और दो भाई प्रैक्टिकल स्कूल में दाखिल हो गये थे और इसलिए उनकी इच्छा आदेश का दरजा रखती थी। मैं अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर नौ नम्बर की कोठी में ज्ञानी दिलावरसिंह के साथ आ गया। स्कूल वहाँ से बड़ा निकट पड़ता था। काम करता-करता मैं एक-आध चक्कर वहाँ भी लगा आता और ज़रूरत पड़ने पर मघवार साहब की सहायता कर आता।

वाणी उन दिनों बड़ी व्यस्त थी। देवा जी की बड़ी लड़की और स्कूल की बड़ी छात्रा होने के कारण उसकी सरगर्मियों का अन्त न था। हर वक्त, हर जगह वह दिखायी देती थी। लेकिन इन सब सरगर्मियों में भी वह मुझे नयी की गति-विधि से परिचित कराना न भूलती थी। उसके मॉडल की एक-एक ईंट कैसे रखी गयी, इसका रत्ती-रत्ती ब्योरा उसने मुझे दिया था। उन दिनों मेरे अपने मन में न

जाने कैसा उत्साह अगवगा कर जग उठा कि मैं अपने काम के अतिरिक्त दूसरे सभी कामों में योग देने लगा था और हिंस्र आँखों के भय से साँझ-सवेरे धुंधलकों में मिलने वाली दृष्टियाँ इस आम उत्साह के दिवा-प्रकाश में मुखर हो उन्मुक्त खेलने लगी थीं।

लेकिन तभी उनके बीच एक अभेद्य दीवार आ खड़ी हुई।

सम्मेलन में अभी पाँच दिन शेष थे। अप्रैल की पहली तारीख थी। मेरे कस्बे से दो-एक परिचित और मित्र मेरे भाई के साथ देवनगर देखने आ गये। उनके आगमन ने मेरा उत्साह और भी बढ़ा दिया। मैं उन्हें अपने साथ देवनगर, उसकी कोठियाँ, डयोढ़ी, लंगर, प्रेस, गुम्बद, उसमें बैठने वाले देवा जी, प्रैक्टिकल स्कूल, उसमें नबी का मॉडल, और रामा थापा के बच्चे का चित्र— सब दिखाता फिरा। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि देवा जी की दोनों लड़कियों के बड़े सुन्दर चित्र भी वहाँ लगे हुए थे और अमीरों के जितने बच्चे स्कूल में आये थे उनका कुछ-न-कुछ दर्शनीय काम वहाँ मौजूद था। मैंने अपने कस्बे के मित्रों को एक-एक चीज़ दिखायी। देवनगर से असन्तुष्ट लोगों की तरह नहीं, देवनगर के प्रशंसक देवसैनिकों की तरह। असन्तोष यदि कहीं था तो वह उस उत्साह में दब गया था। ज़बान पर वह नहीं आया। मेरे कस्बे के मित्र इतने प्रसन्न और प्रभावित हुए कि उन्होंने पाँच तारीख को सम्मेलन में आने का पक्का इरादा कर लिया और एक ने तो देवा जी को इस बात का वचन भी दे दिया कि वह अपने पिता से कहकर देवनगर में एक कोठी बनवायेंगे।

बड़ी-बड़ी आँखें

सुबह का वक्त था। दस बजे होंगे। नहा-धोकर और नाश्ता करके मैं बस पर अपने मित्रों को छोड़ने जा रहा था कि सामने हरमोहन के साथ पत्थरचट्टी के थाने का हेड कान्स्टेबल आता दिखायी दिया। देवा जी सदा इस बात की घोषणा करते थे कि वे पुलिस को रिश्वत देने के विरुद्ध हैं। पुलिस द्वारा गाँव वालों पर जो अत्याचार होते थे, वे उनका मुक़ाबला करने, ज़रूरत पड़े तो न्याय की माँग में हर कुर्बानी करने का भी उपदेश दिया करते थे, लेकिन देवनगर का कोई भी त्यौहार या उत्सव हो, वे पत्थरचट्टी के थानेदार और हेड-कान्स्टेबल को निमंत्रित करना न भूलते थे। देव-सम्मेलन से पाँच दिन पहले 'पत्थरचट्टी' के यमदूत को देवनगर में देखकर मैं मुस्कराया और मुझे विश्वास हो गया कि सम्मेलन के अवसर पर सारा थाना ज़रूर आयेगा।

मैं उनके पास से निकला जा रहा था कि हेड-कान्स्टेबल ने पूछा—"आपका नाम संगीतसिंह है?"

मैं रुक गया।

"आपके नाम का एक वारेण्ट है।"

"वारेण्ट!" मेरा दिल धक से रह गया। "काहे का वारेण्ट?"

"एक लड़की भगाने का इलज़ाम है।"

"क्या?"

"आप हो आइए," हरमोहन ने मुझसे कहा, "अपने साथियों को बस पर चढ़ा आइए। मैं सारजेंट साहब को ड्योढ़ी में बैठाता हूँ।"

"लेकिन मेरे नाम वारेण्ट कैसे हो सकता है?" मैंने कहा, "किसी दूसरे के नाम होगा। ग़लती से इधर आ गया होगा।"

"यही मैंने इनसे कहा है," हरमोहन बोला, "ज़रूर ग़लती हुई है। आप मित्रों को चढ़ा आइए बस पर!"

"जी नहीं," सारजेंट ने कहा—"यह देखिए 'संगीतसिंह देवनगर' लिखा है।"

"हाँ, हाँ....." हरमोहन ने हेड-कान्स्टेबल को शान्त करते और उसके कंधे को थपथपाते हुए कहा, "इनके मित्र आये हुए हैं, इन्हें बस पर चढ़ा आने दीजिए, ये कहीं न जायँगे, इसकी मैं गारण्टी लेता हूँ।"

•

मैंने एक उड़ती-सी निगाह वारेण्ट पर डाली। मेरी आँखों ने अपना नाम ज़रूर देखा, पर उसके बाद कुछ अँधेरा-सा छा गया। चेहरा शायद उतर गया। सूखे गले से मैंने अपने मित्रों से कहा—"आप चलिए, बस निकल जायगी," और मैं मुड़ा।

"नहीं, नहीं, आप इन्हें बस पर चढ़ा आइए!" हरमोहन ने कहा, "मैं सारजेंट साहब को बैठाता हूँ। अपने ही आदमी हैं।"

लेकिन न जाने क्यों, मित्रों के सामने आँख उठाना तक मेरे लिए दुष्कर हो गया। बिना उनकी ओर देखे मैंने कहा—"आप चलिए, बस निकल जायगी, मैं ज़रा इनसे निबट लूँ।"

और मैं उनके साथ वापस फिरा।

शायद मेरे उतरे हुए मुख अथवा सारजेंट की उपस्थिति के कारण मेरे साथी गये नहीं। कुछ अन्तर पर पीछे-पीछे आने लगे। लेकिन मैंने उनकी ओर फिर नहीं देखा। चलते-चलते दो-एक बार मैंने वारेण्ट पर नज़र डालने की कोशिश की, पर हर बार आँखों के सामने अँधेरा सा छा गया।

अब इतने दिन बाद सोचता हूँ तो हँसी आती है कि मेरा दिमाग़ उस समय कहाँ घास चरने चला गया था? क्यों मैंने ध्यान से वारेण्ट को नहीं पढ़ा? पर कस्बे की फ़िज़ा में पलने और सदा पुलिस के अत्याचारों के किस्से सुनते रहने के कारण शायद अनजाने ही कुछ ऐसा आतंक-सा मन में बैठ गया था कि वारेण्ट का नाम सुनते ही दिल धड़क उठा और समझ की सारी शक्तियाँ जवाब दे गयीं। मेरे भाई और मेरे कस्बे के मित्रों की उपस्थिति भी शायद मेरी उस घबराहट का कारण थी। मैं शान्ति के साथ कमरे में बैठा होता और सारजेंट आता तो मैं बड़े धीरज से वारेण्ट को पढ़ता, पर खुशी के उस मूड में, बस पर अपने कस्बे के साथियों और मित्रों को चढ़ाने जाते हुए, इस बात की घोषणा कि मुझपर लड़की को भगाने का अभियोग है, इतनी अप्रत्याशित थी कि मैं एकदम घबरा गया।

चलते-चलते मैंने ड्योढ़ी के रास्ते में फिर दो-एक बार वारेण्ट पर नज़र दौड़ाने की कोशिश की, पर अपने नाम से आगे मेरी निगाहें नहीं गयीं।

"किस लड़की को भगाने का इलज़ाम है?" मैंने कुछ रुककर पूछा।

"यह तो आप जानते होंगे।"

"जानता तो क्यों पूछता?"

"तेरह-चौदह बरस की छोटी, पतली, छरहरी नाबालिग़ लड़की है। नाम लिखा है।"

मैंने लड़की का नाम पढ़ने की कोशिश की, पर आँखों के आगे फिर अँधेरा छा गया।

ड्योढ़ी में पहुँचकर मैं रेडियो के साथ वाली बेंच पर बैठ गया और फिर मैंने एक बार वारेण्ट पढ़ने की कोशिश की, लेकिन फिर

असफल रहा। ओठों ही में मैंने जो कहना चाहा उसका मतलब कुछ यह था कि किसी ने ग़लत रिपोर्ट दी है, मैं किसी लड़की को नहीं जानता।

"यदि कोई आपकी ज़मानत दे दे तो यह बाद में तय हो जायगा, नहीं तो आपको मेरे साथ चलना होगा।"

तभी मेरी नज़र दरवाज़े पर खड़े अपने मित्रों पर पड़ी जो वापस आ गये थे और मेरा साहस बँधा। "मेरे मित्र मेरे गाँव से आये हुए हैं, बड़े अमीर घराने के हैं," मैंने कहा, "वे ज़मानत दे देंगे?"

"पर हम उन्हें नहीं जानते। देवा जी या हरमोहन ज़मानत दे दें तो ठीक है।"

मैं कुछ क्षण को दोनों हाथों में सिर देकर बैठ गया।

जब कुछ देर बाद मैंने सिर उठाया कि हरमोहन से ज़मानत देने को कहूँ और देखूँ कि उसकी आँखों में हमदर्दी है या उपेक्षा ....तो मैंने देखा, सारा देवनगर धीरे-धीरे आकर ड्योढ़ी में इकट्ठा हो गया है। न सिर्फ़ सब देवसैनिक हैं, वरन् उनकी पत्नियाँ भी हैं। और तो और ज्ञानी दिलावरसिंह और पंडित हज़ारीलाल के घर से भी स्त्रियाँ आ गयी हैं और अजीब-सी खसर-फसर हो रही है। यदि वाणी भी इनमें हुई।.:...और इस विचार से ही कि वह मुझे इस दशा में देखकर क्या सोचेगी, मेरा दिल बैठ गया। पर एक नज़र देखने पर मुझे सन्तोष हुआ—उन सब तमाशाइयों में वाणी मौजूद न थी।

तभी माता जी से मेरी निगाहें चार हुईं। उनमें अजीब-सी उल्लासभरी चमक थी। और सावित्री! उसके ओठों पर मुस्कान और आँखों में शरारत थी।....फिर मैंने जिस-जिसके चेहरे को देखा उसे अपने साथ हमदर्दी रखने के बदले मुस्कराते पाया, यहाँ

तक कि सारजेंट की आँखों में भी क्षीण-सी मुस्कराहट थी।...न जाने इस घबराहट में कब तीरथराम ने मेरे हाथ से वारेण्ट ले लिया था। जब मैंने उसकी ओर देखा तो वह ऊँची आवाज़ से सब उपस्थित लोगों को वारेण्ट की धारा और अभियोग सुना-सुनाकर उसकी व्याख्या कर रहा था।

तब जाने कैसे अचानक बिजली के कौंधे की लपक-सा सब कुछ मेरे सामने स्पष्ट हो गया। मैं एकदम उठा और मैंने सारजेंट को डाँटा कि इस मज़ाक का फल उसे भोगना पड़ेगा, मैं सुपरिटेंडेंट को रिपोर्ट करूँगा। और मैं बगूले-सा ड्योढ़ी से निकला। बाहर मेरे साथी और मित्र खड़े थे। चेहरे उनके उतरे थे। "यह सब मज़ाक है, आप लोग जाइए, आपकी बस चली जायगी," यह कहता हुआ मैं उसी तेज़ी से अपने कमरे की ओर बढ़ा। अपने पीछे मैंने 'एप्रिल फ़ूल' 'एप्रिल फ़ूल' की आवाज़ें सुनीं। मैंने पलटकर नहीं देखा। बढ़ता हुआ मैं अपनी कोठी में आया और दरवाज़े की चिटखनी चढ़ाकर धम से कुर्सी पर जा बैठा।

देर तक देवसैनिक मेरे किवाड़ खटखटाते और 'एप्रिल फ़ूल' 'एप्रिल फ़ूल' चिल्लाते रहे। लेकिन मैं टस-से-मस न हुआ। मेज़ पर बाज़ू रखे सिर को उनमें टिकाये, औंधे मुँह झुका बैठा रहा।

दोपहर का खाना खाने मैं नहीं गया। ज्ञानी दिलावरसिंह एक-दो बार आये, पर मैंने दरवाज़े नहीं खोले। अपने कस्बे के दोस्तों के सामने वह मज़ाक मुझे बेहद क्रूर लगा। फिर अपने कमरे की तनहाई में मेज़ पर बैठे-बैठे उस अभियोग की वास्तविकता मुझ पर खुल गयी। तेरह-चौदह वर्ष की, पतली-सी, छोटी-सी लड़की.....

उनका संकेत निश्चय ही वाणी की ओर था। ज़रूर यह षड़यन्त्र तीरथराम और हरमोहन की सहायता से हुआ है....और मुझे याद आया कि डयोढ़ी में इकट्ठे होने वालों में और सब थे, लेकिन वाणी न थी....अप्रैल की पहली तारीख को उन्हें मेरा मजाक उड़ाना था तो कोई और अभियोग लगा सकते थे, पर अपने मन का ज़हर उन्होंने उस अभियोग द्वारा प्रकट कर दिया था....तेरह-चौदह वर्ष की पतली, छरहरी, नाबालिग़ लड़की....और मुझे तीरथराम की व्याख्या याद आयी—'संगीत जी को छोटी-छोटी नाबालिग़ लड़कियों को भरमाना खूब आता है।' कमरे में मेरा दम घुटने लगा। मैं उठा। किवाड़ बन्द कर मैंने ताला लगाया और बाहर निकल मैं उस विराट बरगद के नीचे पहुँचा जहाँ सन्नाटा था, अँधेरा था और शांति थी। घने सायों में सील की कुछ अजीब-सी बू थी। पत्ते बिखरे पड़े थे। लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ लटक रही थीं। नीचे धरती पर सफ़री बनजारों ने ईंटें इकट्ठी कर जगह-जगह चूल्हे बना रखे थे। न जाने आग उनमें कब जली थी। राख उड़ चुकी थी, केवल उसकी स्याही बाकी थी। ऊपर घनी शाखाओं में ढेर-सी चमगादड़े उलटी लटकी हुई थीं। मेरे जाने से वे एक साथ 'शा-शा' कर चीख़ उठीं। दो-एक तोते अपनी कोटरों से बाहर निकले और उड़ गये। बड़ी देर तक मन-ही-मन सुलगता-जलता मैं घूमता रहा। बरगद के परे कपास का खेत बिल्कुल सूख गया था। कपास झड़ चुकी थी। केवल सूखे डंठल काटे जाने की प्रतीक्षा में खड़े थे। परे दूर तक कार्तिक में बोयी गेहूँ की फसल पकी खड़ी थी। हवा के हलके-से झोंके से सुनहरी बालियाँ आमूल सिहर जातीं और हवा का तेज़ झोंका आता तो उसके रुख़ को झुक जातीं।

न जाने मैं कितनी देर तक घूमता रहा, लेकिन सूरज बरगद के ऊपर था कि पश्चिम के क्षितिज पर गहरा पीला बादल उठा। 'शायद आँधी है।' मैंने सोचा लेकिन आँधी के दिन कहाँ ?— मन ने कहा। सोच ही रहा था कि बादल का वह टुकड़ा तेज हवा के पंखों पर उड़ता हुआ बढ़कर सारे आकाश पर छा गया। 'यह तो ओलों का बादल है।' मन-ही-मन सोचता मैं तेज़ी से पलटा।

कोठी में पाँव रखा ही था कि सूखे अम्बर पत्थर पड़ने लगे। देखते-देखते सारी धरती सफ़ेद हो गयी। कभी-कभी कोई मोटा पत्थर बरामदे के फ़र्श पर ज़ोर-से आ गिरता और चूर-चूर होकर बिखर जाता। तेज़ हवा चल रही थी और खासी ठंड हो गयी थी। कुछ देर तक मैं बरामदे में खड़ा पत्थर पड़ते देखता रहा फिर अन्दर कमरे में चला गया।

अभी मुश्किल से बैठा हूँगा कि देवा जी का नौकर छाता ताने एक चिट्ठी लाया।

"वाणी बीबी ने दी है।" उसने कहा।

वाणी की चिट्ठी ! मेरा दिल धड़क उठा। मैंने चिट्ठी ले ली। नौकर चला गया। छोटे-छोटे पर बड़े साफ़ अक्षरों में लिखा था :

संगीत जी,

आज देवनगर में आपके साथ जो सलूक हुआ है उसके लिए मन बड़ा दुखी है। दुनिया बेदार नहीं। दुनिया नहीं चाहती कि जिधर से वाणी गुज़रती है, उधर से संगीत जी गुज़रें। या वे वाणी-जैसी नाचीज़ हस्ती से दो बाज़ियाँ बैडमिण्टन खेलें। इस नगर का नाम चाहे देवनगर है पर यह वास्तव में राक्षस नगर है। दार जी के उपदेश ऊसर में गिरी बूंदों सरीखे हैं। चाहे

आपने मुझे जो स्नेह दिया है वह एक दम पवित्र है, पर जिनके दिलों में मैल है, वे इसे अपवित्र समझते हैं। आज से हरमोहन भराजी, सुदर्शनसिंह और तीरथराम जी हमारे पीछे लगे हुए हैं। आपने जैसे अब तक व्यवहार किया है वैसे ही और दो-तीन वर्ष करेंगे, यह मैं आपसे प्रार्थना करूँगी। आपकी और अपनी इज्ज़त के खयाल से मैं ये चन्द पंक्तियाँ लिख रही हूँ। इस पत्र को पढ़कर फाड़ दें।

आपकी
वाणी

पत्र को पढ़कर सुबह का सारा अपमान और क्लेश धुल गया, लेकिन साथ ही एक अजीब-से पीड़ामय आक्रोश से मन भर उठा। 'यह देवनगर नहीं, राक्षस नगर है।' जब देवनगर के संचालक की पुत्री यह कह सकती है तो औरों की बात दूर रही। फिर हरमोहन, तीरथराम और बकरे की दाढ़ी वाले देवनगर के उस यूसुफ़ का वह क्रूर षड़यन्त्र! ......देवा जी वहाँ नहीं थे, होते तो शायद उसी समय जाकर मैं उन्हें त्यागपत्र दे आता।

शाम को भी जब मैं खाना खाने नहीं गया और सूखे रस्क खाकर और पानी पीकर लेट गया तो ज्ञानी जी ने मेरा दरवाज़ा खटखटाया। उठना न चाहता था, बात भी करना न चाहता था, पर उनके बार-बार दस्तक देने पर उठा। मेरे पास चारपाई पर आकर वे बैठ गये। सुबह की घटना का उल्लेख कर उन्होंने कहा—"तुमने न सुबह खाना खाया, न शाम, मुझे बड़ी चिन्ता हो गयी है। भाई तुम्हें मज़ाक का यों बुरा न मानना चाहिए।"

"मैं मज़ाक का बुरा नहीं मानता," सहसा मैं बोल उठा, "लेकिन इस मज़ाक की तह में जो बात है, उसका मुझे दुख है।"

"क्या बात है?" ज्ञानी जी मेरे निकट हो बैठे और उन्होंने मेरी पीठ को बड़े स्नेह से थपथपा दिया।

मैं चुप रहा।

"क्या बात है?" उन्होंने फिर मेरी पीठ थपथपायी।

तब न जाने मुझे क्या हुआ, ज्ञानी जी के उस प्रश्न में, घनी सफ़ेद दाढ़ी-मूछों से भरे उनके उस मुख में, बड़ी-बड़ी जिज्ञासापूर्ण उनकी आँखों में क्या बात थी, कैसा विश्वासोत्पादक स्नेह था, या न जाने मेरा ही मन कैसा भरा था कि छलक उठना चाहता था—मैंने पहले दिन से लेकर उस दिन तक तीरथराम, अपने और वाणी के सम्बन्ध की सारी बातें उन्हें बता दीं। कहीं कुछ भी नहीं छिपाया।

ज्ञानी जी, देवा जी के अंध-भक्तों में से थे। उनकी बड़ी लड़की ने न केवल मुझ-जैसे एक साधारण मुलज़िम को चाहा है, बल्कि उसे देवनगर के बारे में ऐसा घातक पत्र लिखा है, यह सुनकर उनके मुख पर चिन्ता का गहरा बादल छा गया। कुछ क्षण वे चुप रहे, फिर उन्होंने बड़ी गहर-गम्भीर वाणी में कहा—"आपकी बातें अस्सी प्रतिशत ठीक हैं....."

"मैंने एक प्रतिशत भी झूठ नहीं बोला।" बात काटकर मैंने कहा।

"आपने झूठ नहीं बोला, आपका अनुमान ग़लत था।"

मैं चुप रहा।

कुछ क्षण बाद ज्ञानी जी फिर बोले—"तीरथराम ईर्ष्या से आपके पीछे नहीं रहता था, हरमोहन ने उसे नियुक्त कर रखा था......!"

"मेरे विरुद्ध अंटसंट बातें कहकर उसने अपने आपको नियुक्त करा लिया था, यों कहिए।"

ज्ञानी जी ने मेरी बात की ओर ध्यान नहीं दिया। कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा—"आप वह पत्र मुझे दिखा सकते हैं ?"

"मैं आपको दिखा सकता हूँ।"

"दिखाइए !"

और मैंने अपने दोनों हाथों में पत्र थाम कर उन्हें जल्दी-जल्दी पत्र पढ़ा दिया और यद्यपि इस बात की ज़रा भी सम्भावना न थी तो भी इस बात का मैंने ध्यान रखा कि वे छीन न लें।

"यह पत्र आपको मुझे दे देना चाहिए," उन्होंने फिर उसी अनुरोधपूर्ण स्वर में कहा। फिर क्षण भर बाद बोले, "और आपको त्यागपत्र दे देना चाहिए।"

"पत्र मेरा व्यक्तिगत है, मैं आपको क्यों दूं ?" मेरे स्वर में हलकी-सी झल्लाहट थी, "मैं इसका कोई अनुचित लाभ न उठाऊँगा, इसका वचन मैं आपको देता हूँ। रहा त्यागपत्र, तो मेरा क्या दोष है कि मैं त्यागपत्र दूं ?"

ज्ञानी जी फिर चुप हो गये। वास्तव में वे उस पत्र को देखकर बड़े चिन्तित हो उठे थे। बहुत देर तक वे मुझसे पत्र माँगते रहे, पर मैंने पत्र देने से एकदम इनकार कर दिया। उन्हें चिन्ता थी कि देव-सम्मेलन होने जा रहा है, पत्र की बात का पता चला तो जाने विरोधियों के हाथ में वह कैसे गुल खिला दे। आखिर लगभग रात के बारह बजे मुझसे वचन लेकर कि मैं किसी से भी उस पत्र का जिक्र न करूँगा वे चले गये।

लेकिन सुबह ही वे फिर आ गये। मैं रातभर सोया न था, पर वे भी न सोये थे। आते ही उन्होंने फिर वही रट लगा दी। मैंने रात उस चिट्ठी की एक प्रतिलिपि करके रख ली थी। मैंने उनसे कहा—"मैं चिट्ठी आपको दूंगा नहीं, पर आपको यह बताने के लिए कि मेरा इरादा न तो उसे विरोधियों को दिखाने का है और न किसी और को देने का, मैं उसे जला देता हूँ।"

"हाँ आप उसे जला दीजिए!" उन्होंने जैसे सुख की लम्बी साँस ली।

और मैंने उस पत्र को तीली दिखा दी। कुछ क्षण तक जलता और मुड़ता वह पत्र मेरे हाथ में रहा, फिर जब मेरी अँगुलियाँ जलने लगीं तो मैंने उसे छोड़ दिया और जलता हुआ वह लाल सीमेंट के फ़र्श पर जा गिरा।

ज्ञानी जी सन्तुष्ट होकर चले गये, तो मेरी नजर उस जलते हुए पत्र पर चली गयी—काग़ज़ का एक कोना राख से अलग होकर पड़ा था और राख कमरे में उड़ रही थी। मैंने वह काग़ज़ का टुकड़ा उठाया, केवल एक शब्द जलने से रह गया था—वाणी।

———



मन में एक तूफ़ान सा मचा था। उद्वेग था कि लेखनी में समा न पा रहा था। शब्दों से कहीं आगे विचार भागे जा रहे थे और उन्हें पकड़ने के भरसक प्रयास में लेखनी उनके पीछे सरपट दौड़ी जा रही थी। आधी रात के सन्नाटे में, लैम्प जलाये, अपने कमरे के एकान्त में मैं कागज पर कागज़ रंगे जा रहा था।.... चार दिन पहले ज्ञानी जी ने मुझे त्यागपत्र देने को कहा था तो मैंने इनकार कर दिया था—'मैं क्यों त्यागपत्र दूं, मेरा क्या दोष है ?' मैंने कहा था, लेकिन अब ज्ञानी जी के लगातार रोकने पर भी, त्यागपत्र न दूंगा—ऐसा वचन उन्हें देने पर भी, बिस्तर छोड़, लैम्प जला, मैं त्यागपत्र लिखने बैठ गया था।

अब सोचता हूँ तो पाता हूँ कि यदि ज्ञानी जी पहली अप्रैल को मुझे त्यागपत्र देने को न कहते तो शायद मैं उस घटना के बाद अपने आप त्यागपत्र दे देता, लेकिन जब उन्होंने वाणी के पत्र को पढ़ कर कहा कि मुझे त्यागपत्र दे देना चाहिए तो उनकी यह माँग मुझे सर्वथा अन्यायपूर्ण लगी और मैं चिल्ला उठा—"मैं क्यों त्यागपत्र दूं, मेरा क्या दोष है?"

लेकिन त्यागपत्र न देने के बावजूद उस घटना के बाद मेरा मन देवनगर से कुछ उखड़ गया था। वहाँ रहकर भी जैसे वहाँ नहीं था।

दूसरी सुबह ही 'पत्थरचट्टी', 'बनौली', 'चक हाशिम मिस्त्री' और 'थुल्लर' से गेहूँ की फ़सल के बरबाद हो जाने की खबरें आने लगीं। प्रैक्टिकल स्कूल के उद्घाटनोत्सव पर आने वालों के मनोरंजनार्थ देवा जी ने निकटवर्ती देहातियों के नृत्य, गान तथा खेलों का प्रोग्राम रखा था। इसके आयोजन की डियुटी पत्थरचट्टी के थानेदार की मदद से स्वयं हरमोहन ने अपने ज़िम्मे ले ली थी। लेकिन जब शाम को हरमोहन वापस आया तो मालूम हुआ कि ओलों का बादल जिस गाँव के ऊपर से होकर गया, उसे बरबाद करता गया। पक्की खड़ी फ़सल पत्थर की मार से तबाह हो गयी थी। गाँवों में त्राहि-त्राहि मच गयी थी। ऐसे में नाच-गाने और खेल-कूद को किसका मन था। हरमोहन बड़े-से प्रोग्राम की जो स्कीम बनाकर गया था, वह एकदम चौपट हो गयी थी। दिन भर दौड़-धूप के बाद पत्थरचट्टी के थानेदार के कोप की धमकी और काफ़ी पैसों के लोभ की मदद से वह कुछ टूटी-फूटी मंडलियाँ तैयार कर पाया था।

तब मथवार साहब ने परामर्श दिया कि उद्घाटनोत्सव एक महीने के लिए स्थगित कर दिया जाय। "इर्द-गिर्द के गाँवों में जब

हाय-हाय मची हुई है तो हमें खुशी मनाना शोभा नहीं देता," उन्होंने कहा था। देवा जी पहले तो मथवार साहब से सहमत दिखायी दिये और उन्होंने एक बड़ा ही भावुकता-भरा लेख भी 'दैवी विपत्ति से गाँवों की तबाही' पर लिखा और ऐसी स्थिति में कुछ भी सहायता न कर सकने के लिए कांग्रेस तथा सरकार दोनों की निन्दा की, पर शायद देवसैनिक तैयार न हुए, (कम-से-कम मथवार साहब से उन्होंने यही कहा) या शायद उन्होंने स्वयं इरादा बदल दिया। लेख क्योंकि बन गया था, इसलिए अन्त में उन्होंने एक पैरा और जोड़ दिया—

"देहात की इस तबाही को देखकर मन नहीं होता कि हम प्रैक्टिकल स्कूल के उद्घाटन का उत्सव मनायें, लेकिन मौत का एक ही जवाब है—ज़िन्दगी! नाश का एक ही उत्तर है—निर्माण! इसीलिए हम आस-पास की इस तबाही में घिरे रहकर भी जीवन और निर्माण के इस पर्व को स्थगित नहीं कर रहे। लेकिन इस खुशी में हमारी सारी वृत्तियाँ अपने उन्हीं भाइयों, साथियों और पड़ोसियों की ओर लगी हुई हैं, जो इस दैवी विपत्ति में अपनी सारी कमाई लुटा बैठे हैं......"

और उस समय जब इर्द-गिर्द के गाँव उस दैवी विपत्ति में लुटे-पुटे थे और देवनगर में उत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं, जाने क्यों मेरा मन निरन्तर उन्हीं देहातियों की बात सोचता था, जिन्होंने दिन रात जोत-गोड़ कर, माघ-पूस की सर्दी में सिंचाई करके सोना उगाया था और जिनके इतने दिनों के श्रम को दैव ने यों कुछ क्षणों में बरबाद कर दिया था।

मैं देवा जी से लेख लेने गया था जब पत्थरचट्टी के कुछ किसान आये हुए थे। उनसे मालूम हुआ कि न केवल गेहूँ की बालियाँ ओलों

की मार से बिछ गयी हैं, बल्कि डंठल भी सड़ रहे हैं। उनको ही नहीं, उनके पशुओं को भी फ़ाकों का सामना है और वे ग़रीब देहाती देवनगर के बादशाह से मदद माँगने आये हैं।

बादशाह ने उनकी दशा पर बड़े मीठे शब्दों में अपनी ओर ही से नहीं, सारे देवनगर की ओर से सहानुभूति प्रकट की, लेकिन साथ ही तत्काल कुछ सहायता देने में असमर्थता जतायी—"देवमंडल के स्थायी फण्ड का बहुत-सा रुपया प्रैक्टिकल स्कूल बनाने में लग गया है," उन्होंने कहा, "पाँच को स्कूल का उद्घाटन हो रहा है। उधर से निबट जायें तो आपके लिए कुछ सहायता की व्यवस्था करूँ।"

और किसान चले गये थे। मैं देवा जी को अनुवाद सुनाकर और नया लेख लेकर वापस आ गया था। मैं जानता था, उन्होंने केवल टालने के लिए मीठे शब्दों में उन्हें आश्वासन दे दिया है। उन किसानों की दुरावस्था से द्रवित मेरा मन जाने क्यों एकदम उस देवनगर से भाग जाने को होता था। देवा जी बड़े ऊँचे आदर्शवादी, बड़े मृदुभाषी और बड़े सज्जन लगते थे, पर जब उनके मिठास-भरे शब्दों के पीछे मैं कृत्य के नाम पर एक बड़ा सा शून्य पाता तो मन सहसा वितृष्णा से भर उठता और लगता कि यह सब ढोंग है और वहाँ काम करना उस ढोंग में योग देना है।

यह अजीब बात है कि अपनी नौकरी के सम्बन्ध में अच्छे-बुरे उद्देश्य की बात मैंने पहले कभी न सोची थी—उसी तरह जैसे मैं ग़रीबी के सम्बन्ध में पहले कभी न सोच पाया था। लेकिन पहले शायद मैं यों सोचने के योग्य ही न था। देवा जी के लेखों ने ही मुझे उस तरह सोचना सिखाया था, पर जब मैं उन लेखों द्वारा सीखी हुई बातों को देवसैनिकों के कृत्यों से मिलाने लगा तो मुझे निराशा

होने लगी। फिर वाणी .... जाने क्यों उसकी दृष्टि में उठ जाने की आकांक्षा मेरे मन में अनजाने ही आ बैठी। श्यामा से पता पाने पर उसने जब नबी को स्कूल में दाखिल कराने का वचन दिया और किसी ग़रीब देहाती के लिए उस तरह चिन्ता करने पर मेरी प्रशंसा की तो चाहे मैंने अपने मुख पर उसका आभास नहीं आने दिया, पर गर्व से मेरा हृदय फूल उठा और उस किशोरी की दृष्टि में हिमालय-सा ऊँचा उठ जाने की आकांक्षा सहज भाव से वहाँ समा गयी।

वाणी की वह चिट्ठी यद्यपि ज्ञानी जी को मैंने दिखा-पढ़ा दी थी, लेकिन उसकी बात मैंने किसी से न कही थी। एप्रिल फ़ूल-सम्बन्धी अपने उस अपमान के बाद क्रोध के पहले आवेग में यद्यपि मैं देवा जी को सब-कुछ बता देना चाहता था, तो भी जब वे दूसरे दिन आ गये तो मैंने उनसे कुछ नहीं कहा। मेरे मन में इतना क्षोभ और दुःख है, इसका भी पता मैंने उन्हें नहीं चलने दिया—चुपचाप लेख ले आया, उनके आदेश सुन लिये, "जी हाँ, जी हाँ" कहा और बस—शायद ज्ञानी जी को सब-कुछ बता देने पर क्रोध का आवेग शान्त हो गया था।

लेकिन उस घटना के बाद मैं देवनगर के उस आम उत्साह में भाग नहीं ले सका, देवनगर की हँसी-खुशी में शामिल नहीं हो सका और न जाने क्यों, वाणी से भी आँख न मिला सका। यद्यपि ज्ञानी-जी ने बहुतेरा कहा, लेकिन मैं खाना खाने डाइनिंग हाल में नहीं गया। ज्ञानी जी दोनों वक्त खाना लाकर देते रहे और मैं कोठी पर ही खाता रहा। आखिर चौथे दिन जब मैंने जाना कि मैं अपेक्षाकृत स्वस्थ हो गया हूँ, मैंने खाना खाने के लिए शाम को डाइनिंग हाल में जाने का फ़ैसला किया।

लेकिन यह मेरा भ्रम था। मेरा घाव भरा न था। ऊपर से चाहे उसपर हलका सा खुरंड आ गया था, पर भीतर से वह उसी तरह कच्चा था—ज़रा सी ठेस पर दुख उठने और रिस-बहने वाला! और उसी शाम क्रोध का वह आवेग फिर उसी ज़ोर से उमड़ उठा।

कृष्णपक्ष की अँधेरी शाम थी। तीसरी पाँत की घण्टी वजी तो बाहर अंधकार काफ़ी घना हो गया था। मैं सब लोगों के बैठ जाने के बाद हाल में पहुँचा। बिना किसी से आँख मिलाये, थाली-कटोरी उठाकर पिछली कतार में अपनी मेज़ पर जा बैठा, जल्दी-जल्दी खाना खत्म कर सबसे पहले उठ गया और उसी तरह जल्दी-जल्दी हमाम से हाथ धोकर अपनी कोठी की ओर चल पड़ा। अभी चन्द ही क़दम बढ़ा था कि मुझे अपने पीछे रुँधी-घुटी आवाज़ सुनायी दी, "संगीत जी!"

वाणी की आवाज़ थी। तेज़-तेज़ चलने से उसकी साँस किंचित फूल आयी है, यह मैंने बिना मुड़े जान लिया।

"संगीत जी!"

वह रुँधी-घुटी अनुरोध भरी आवाज़! चाहता था, बिना मुड़े, बिना रुके बढ़ जाऊँ, लेकिन पाँव जैसे वहीं जम गये। क़दम जैसे आगे नहीं उठे। वाणी मेरे बराबर आ गयी। पीछे से आने वाले डाइनिंग हाल के धीमे प्रकाश में उसकी हलकी-सी छाया ही दिखायी दी।

"संगीत जी आप मुझसे क्यों नाराज़ हैं?"

मैं चुप रहा। हम साथ-साथ चलने लगे।

"चार दिन हो गये हैं, मैं आपसे दो बात करने को तरस रही हूँ, पर आपकी सूरत तक दिखायी नहीं दी। मैं जानती हूँ, आपके मन

में बड़ा क्रोध है, क्षोभ है, लेकिन दूसरों की छुटाई देखकर क्या आप अपनी बड़ाई छोड़ देंगे? तीरथराम, हरमोहन और सुदर्शन-भरा जी ने जो कुछ किया है, उसके लिए आप मुझे क्षमा कर दें!"

उसकी आवाज़ रुँध गयी थी, कण्ठ आर्द्र हो आया था। उस अँधेरे में कुछ दिखायी नहीं दिया, पर मेरी आँखों के सामने उसकी बड़ी-बड़ी छलछलायी पनियारी आँखें, सफ़ेद उड़ा-उड़ा मुख और कण्ठ-भाग के उभरे लोम-रन्ध्र घूम गये। इससे पहले कि मैं कुछ कहता, हमारे पीछे से तेज़-तेज़ चलते और बातें करते तीरथराम, हरमोहन और सुदर्शनसिंह आये और वैसे ही बातें करते-करते हमसे ज़रा अन्तर पर आगे-आगे चलने लगे। वाणी चुप हो गयी, उत्तर सुने बिना ज़रा आगे बढ़ गयी, जैसे वह मेरे साथ न चल रही हो! ... 'आज से तीरथराम, हरमोहन और सुदर्शन भरा जी हमारे पीछे लगे हैं,' वाणी के पत्र की यह पंक्ति मेरे दिमाग़ में कौंध गयी और क्रोध का बगूला मेरे मन में उठकर मेरे दिमाग़ की नस-नस में छा गया। मैंने अपनी चाल तेज़ कर दी। पहले वाणी और फिर तीरथराम और सुदर्शन को पीछे छोड़ता हुआ मैं आँधी सा चलता, अपने कमरे में आया। लैम्प जलाया, पैंड उठाया और देवा जी के नाम चिट्ठी लिखने बैठ गया.....

"कहो भाई, क्या हो रहा है?" मुझे आया हुआ जान ज्ञानी जी दरवाज़े में 'प्रकट' हुए।

मैं अपने आवेग में किवाड़ तक लगाना भूल गया था। बिना सिर उठाये मैंने उत्तर दिया—"त्यागपत्र लिख रहा हूँ!"

"त्यागपत्र!" चकित से वे मेरे सामने कुर्सी पर आ बैठे।

"जी !" मैंने क्षण भर क़लम रोक कर कहा, "आपने मुझसे त्यागपत्र देने को कहा था। मैंने फ़ैसला किया है कि आप ठीक कहते हैं, मुझे त्यागपत्र दे देना चाहिए।"

ज्ञानी जी चुप मेरी ओर देखते रहे—लेकिन मैं बोलता गया—

"तब मैंने सोचा था, मेरा क्या दोष है, मैं क्यों त्यागपत्र दूं ? पर अब मैं सोचता हूँ मेरा दोष है कि मैं ऐसी जगह बना हुआ हूं, जहाँ किसी स्वतन्त्र-वृत्ति के आदमी के लिए कोई जगह नहीं, जहाँ वास्तव में ईर्ष्या, द्वेष, संकीर्णता और ओछेपन का राज है, जहाँ प्रेम के स्थान पर नफ़रत और विश्वास के स्थान पर सन्देह है और मैंने तय किया है कि मैं देवनगर के वासियों और अपने आप पर दया करूँ और त्यागपत्र दे दूं !"

देवनगर की निन्दा सुनने पर ज्ञानी जी का चेहरा लाल हो गया, पर बरबस संयत रहकर उन्होंने कहा—"तो आप यह सब त्यागपत्र में लिखने जा रहे हैं।"

"हाँ !"

"आप यह नहीं सोचते कि इससे देवा जी को कितना दुःख होगा। कल उद्घाटन-समारोह है, बाहर से इतने आदमी आये हैं। आपके इस त्यागपत्र को पाकर देवा जी कितने परेशान होंगे।"

"मेरे लिए अब यहाँ एक दिन रहना भी मुश्किल हो गया है।"

और मैंने ज्ञानी जी को कुछ क्षण पहले की घटना सुना दी।

ज्ञानी जी पल भर बैठे चुपचाप सोचते रहे। फिर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ कहना शुरू किया—"अव्वल तो यह आपका भ्रम है कि लोग आपके पीछे लगे हैं। वाणी बच्ची है। उसने यदि बचपने में वैसा लिखा है तो यह नहीं कि वह सोलहों आने सच है। तीरथ और

सुदर्शन चाहे वैसे ही खाना खाकर निकले हों, पर क्योंकि आपके मन में सन्देह है, आपको लगा कि वे आपका पीछा कर रहे हैं।"

"भ्रम की वात नहीं, यह सच है और इसे मैं ही जान सकता हूँ।"

"सच भी हो," ज्ञानी जी ने उसी धीर-गम्भीर वाणी में कहा, "तो भी आपको इतना अनुदार न होना चाहिए। देवनगर तीरथराम, हरमोहन और सुदर्शनसिंह का नहीं, देवा जी का और हमारा सपना है और इसके टूटने से उनको नहीं, हमें दुःख होता है। आप यह सव लिखेंगे तो आप नहीं जानते, देवा जी को कितनी पीड़ा होगी। आपको तीरथ, हरमोहन या सुदर्शन से शिकायत है, देवा जी से तो नहीं, फिर आप उनका दिल क्यों दुखायें। अव्वल तो मैं आपसे यह कहूँगा कि अव त्यागपत्र देने की ज़रूरत नहीं। आपने मुझे सव कुछ वता दिया है। आप मुझे सव वताते रहें तो आपको कोई कष्ट न होगा, लेकिन यदि आपको किसी तरह भी यहाँ रहना स्वीकार न हो तो आप इस तरह दुःख पहुँचाकर क्यों जायँ? रंग में भंग डालकर क्यों जायँ? उत्सव होने दीजिए, न मन लगे तो चुपचाप सीधे त्यागपत्र देकर चले जाइएगा। इस घटना के वारे में देवा जी को कुछ मालूम नहीं। उन्हें यह सव वताकर आपको क्या मिलेगा?"

और मैं चुप रह गया। ज्ञानी जी की इस वात का कोई उत्तर मुझसे न वन पड़ा। 'शत्रु वनकर विछुड़ने से मित्र वने रहकर विछुड़ना अच्छा है,' अंग्रेज़ी की यह कहावत मेरे कानों में गूंज गयी। मैंने लिखा हुआ काग़ज़ फाड़ दिया और ज्ञानी जी से वादा किया कि मैं त्यागपत्र न दूंगा, दूंगा भी तो उत्सव के गुज़र जाने की प्रतीक्षा करूंगा।

ज्ञानी जी देर तक देवनगर के बारे में अपने सपनों, उन सपनों की पूर्ति के रास्ते की रुकावटों, देवसैनिकों की त्रुटियों और उन त्रुटियों के रहते भी देवनगर के सपने को सच कर दिखाने में देवा जी के अडिग विश्वास का उल्लेख करते रहे। उन्होंने मुझसे वचन ले लिया कि मेरे-जैसा 'समझदार' आदमी कम-से-कम उन कठिनाइयों को बढ़ायेगा नहीं।

ज्ञानी जी सन्तुष्ट होकर चले गये तो मैं लैम्प बुझाकर चारपाई पर लेट गया।

लेट गया, लेकिन सो नहीं सका। लेटते ही ज्ञानी जी के साथ अपनी सारी बातचीत फिर से मेरे कानों में गूंज गयी और मुझे लगा कि ये लोग ठीक स्थिति से देवा जी को सदा अपरिचित रखते हैं। देवनगर के जिस विराट सपने के शिखर पर वे बैठे हैं, उन्हें मालूम नहीं कि उसकी नींव उनके अनजाने ही नीचे से खिसकी जा रही है। उन्हें मालूम नहीं कि उनकी नाक के नीचे, उनके प्रिय नगर में नफ़रत और विद्वेष का बाज़ार गर्म है और उन्होंने जो सिद्धान्त बनाये हैं, वे उनके सामने ही तोड़े जा रहे हैं। उन्हें मालूम नहीं कि उनकी अपनी लड़की पिंजरे में बन्द चिड़िया-सरीखी तड़पती है। वाणी की चिट्ठी के शब्द बार-बार मेरी आँखों के सामने घूमने लगे। डाइनिंग हाल से आते-आते अभी कुछ घंटे पहले उसने कहा था—"चार दिन हो गये हैं, मैं आपसे दो बात करने को तरस रही हूँ।......"

और मैं उछलकर चारपाई से उठ बैठा......

......नहीं, यह नहीं होगा, देवा जी को सब-कुछ बताना होगा। बताना होगा कि उनका देवनगर राक्षस-नगर बन रहा है,

उनकी अपनी लड़की उन राक्षसों के चंगुल में फँसकर क्षण-क्षण घुटी जा रही है.... न बताना कायरता होगी, बददयानती होगी .... उद्घाटनोत्सव ?... वे बड़े-बड़े भाषण देंगे और उनकी अपनी लड़की मन में उनपर हँसेगी ! इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी ? इस विडम्बना से उन्हें बचाना होगा ! ...और मैंने उठकर लैम्प जलाया, लोई ओढ़ी, मेज़ पर जा बैठा और कागज़-कलम उठाकर सर्र-सर्र लिखने लगा।

"आदरणीय देवा जी,

आधी रात के सन्नाटे में अन्तर का गला घोंट देने वाले आवेग से विवश होकर मैं चन्द पंक्तियाँ आपको लिखने जा रहा हूँ। मैं जानता हूँ, इन्हें पढ़कर आपको दुःख होगा। ज्ञानी जी ने मुझे यह सब अभी लिखने से रोका है। लेकिन मैं समझता हूँ कि यह सब न लिखना आपके और अपने साथ धोखा करना है। मैंने बहुत सोचा है—इतना कि मेरी रात की नींद हराम हो गयी है और मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि स्थिति जैसी भी है, उसमें एक दिन भी और यहाँ रहना मेरे लिए असम्भव है। मुझे तत्काल अपना त्यागपत्र दे देना चाहिए और आपसे प्रार्थना करनी चाहिए कि आप मुझे ऐसी स्थिति में एक दिन भी और यहाँ रहने को विवश न करें।

लेकिन इससे पहले कि मैं आपसे आपके आश्वासन के बाद भी छुट्टी माँगूं, मैं इस त्यागपत्र का कारण लिखना चाहूँगा। ज्ञानी जी कहते हैं—'इससे आपको दुःख होगा।' मैं जानता हूँ, लेकिन सत्य कटु है और यह कटु सत्य मुझे आपके सामने रखना है। इसलिए कि मैं इसे अपना एक कर्त्तव्य समझता हूँ।"

और यों शुरू करके मैंने देवनगर में अपने आने, तीरथराम से मिलने, सबसे पहले उसका स्नेह पाने, उसकी आहों और एकाकीपन का कारण जानने की जिज्ञासा से लेकर बड़े दिन की शाम और उसके बाद की प्रत्येक घटना का उल्लेख कर दिया। यहाँ तक कि वाणी की चिट्ठी, उससे मन में उठने वाले उफान और उसी शाम खाने के कमरे की घटना को भी नहीं छिपाया और अन्त में लिखा—

"आपने एक बार देवनगर के जीवन का सपना बयान करते हुए कहा था—'और फिर तंग मकानों के पास गन्दी नालियाँ न बहें, बागों की छाया में सुन्दर भवन हों; ग़रीबों में घिरा कोई अकेला मालदार चाँदी की ईंटों को सिर पर उठाये चोरों से छिपता न फिरे, बल्कि सभी पेट भर खायँ और विकास के सपने देखें—दिन चढ़े किरणों के सुस्पर्श से लोग जागें; खुले माथे, मुस्कराती आँखों और फैली बाहों से एक-दूसरे से मिलें; प्रभात में जगी चिड़ियों की तरह एक-दूसरे को बुलायें और अपने स्वभाव के अनुसार जीवन का उद्देश्य ढूँढ़ें.....' मैं पूछता हूँ क्या देवनगर में ऐसा है? क्या इर्द-गिर्द की ग़रीब दुनिया में देवनगर का अस्तित्व चाँदी की ईंटों को सिर पर उठाये चोरों से छिपने वाले वैभवशाली व्यक्ति जैसा न होगा? क्या बाहर की सारी संकीर्णता, वैर, विद्वेष, ईर्ष्या, डाह, चाटु-कारिता, चापलूसी यहाँ नहीं? जब आपकी अपनी लड़की इसे राक्षस-नगर समझती है तो हमारी कौन बात? ऐसी स्थिति में मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप मुझे तत्काल छुट्टी दे दें, ताकि इस घुटे-घुटे वातावरण से निकलकर मैं आज़ादी के दो साँस लूँ और जिन्दगी का जो विशाल दृष्टिकोण मैंने आपसे पाया

है, बाहर जाकर उसके अनुसार जीवन बिताने का प्रयास करूँ।"

सुबह देवनगर में बड़ी चहल-पहल, बड़ी रौनक और बड़ा शोर था। प्रातः देव-सम्मेलन था और शाम को उद्घाटनोत्सव। सभी देवनगरवासी सम्मेलन को सफल बनाने में जुटे थे। मेहमान वहाँ से लौटें तो देवनगर के वातावरण, उसके वासियों के मीठे स्वभाव, सज्जनता और सौहार्द्र के गुण गाते जायें, सभी को इसकी चिन्ता थी। किन्तु मैं अपने कमरे से बाहर तक न निकला। सम्मेलन-स्थल में क्या हो रहा है, देवा जी और ज्ञानी जी कैसे भाषण दे रहे हैं, आगत जनों में कौन-कौन बोल रहा है, कौन कवि तथा गायक देवनगर अथवा उसके संचालक की प्रशंसा में कविता या गीत सुना रहा है, मुझे यह सब जानने की इच्छा न हुई। बिस्तर से उठकर सबसे पहले मैंने रात के लिखे त्यागपत्र को दोबारा लिखा, काट-छाँट कर और भी प्रभावोत्पादक बनाया और सफ़ाई से तह कर, एक लम्बे लिफ़ाफे में बन्द कर दिया। फिर नहा-धो और कपड़े बदल कर मैं खाना खाने के लिए चलने को तैयार हो गया। जाते समय मैंने लिफ़ाफ़े पर लाल रोशनाई से अंग्रेज़ी के दो शब्द 'अरजेण्ट तथा पर्सनल' याने अत्यावश्यक और व्यक्तिगत लिखे और मुख को यथा-सम्भव निर्विकार बनाकर मैं डाइनिंग हाल को चल दिया।

हाल के बाहर बड़ी रौनक़ थी। सभी आगत टोलियों के साथ एक-न-एक देवसैनिक अथवा कर्मचारी चिपका था, धनी-मानी अथवा अफ़सर-किस्म के मेहमानों को देवा जी, ज्ञानी जी, स० पालसिंह आर्टिस्ट, मधवार साहब अथवा हरमोहन सम्हाले हुए थे। अन्दर मेजें

उठा दी गयी थीं। सीमेण्ट के चमचमाते फ़र्श पर चादरों की पाँतें बिछी थीं और अतिथियों को बरातियों की तरह भोजन कराया जा रहा था। मैं न किसी टोली में शामिल हुआ, न किसी अतिथि के साथ बातों में लगा। यदि किसी ने कुछ पूछा भी तो मैंने न केवल बड़े मीठे देवनगरिया-ढंग से उसे टाल दिया, बल्कि उसे किसी-न-किसी दूसरे कर्मचारी की ओर भेज दिया और स्वयं तनिक हटकर देवा जी की गति-विधि लेने लगा। कुछ देर बाद वे एक धनी-मानी लहीम-शहीम सरदार के साथ बातें करते हुए हाल में पहुँचे। मैं भी उसी पाँत में जा बैठा और जल्दी-जल्दी खाने से निबट कर, बाहर आ गया और उनके बाहर निकलने की प्रतीक्षा करने लगा।

देवा जी गिना-मिथा भोजन करते थे। भोजन जीने के लिए है और जीना ऊँचे कामों के लिए, इसमें उनका विश्वास था। पर उनके साथ देवता बनने की इच्छा से बैठने वाले सरदार जी शायद जीना खाने के लिए ही समझते थे। देवा जी शिष्टाचारवश उनका साथ निबाह रहे थे और जब उनके मित्र स्वादिष्ट खाने पर हाथ साफ़ कर रहे थे, वे उन्हें अपने जीवन के मनोरंजक किस्से सुना रहे थे और खाने के नाम पर कभी रोटी का ज़रा-सा टुकड़ा कुतर लेते थे, कभी तरकारी चम्मच की नोक पर रखकर मुँह में डाल लेते थे।

उनकी प्रतीक्षा में खड़े-खड़े मैं लगभग उकता गया। कुछ देर बाद दरवाज़े में जाकर उन सरदार जी को खाने पर हाथ साफ़ करते देख आता और फिर बाहर आकर प्रतीक्षा करने लगता। आखिर लगा जैसे एक युग के बाद वे अपने साथी के साथ इस बात पर बहस करते हुए हाल के दरवाज़े में नमूदार हुए कि वे अपने मेहमान की थाली उठायें, अथवा मेहमान उनकी। कुछ देर की तकल्लुफ़भरी

छीना-झपटी के बाद आखिर दोनों अपनी-अपनी थालियाँ लेकर हमाम की ओर बढ़े।

वास्तव में देवा जी और उनके सैनिकों का यह पुराना तरीक़ा था। बाहर से आने वालों को खाना खाने के बाद, अपनी थाली उठाकर नल पर ले जाना बुरा न लगे, इस खयाल से वे सदा उनकी थाली उठाकर चल देते थे। समझदार मेहमान अपनी थाली ले लेते थे और यदि कोई एक बार न समझता तो दूसरी बार समझ जाता। हाथ धोकर देवा जी अपने साथियों के साथ पूर्ववत बातें करते चले। तभी मैंने बढ़कर लिफ़ाफ़ा उनके हाथ में दे दिया। ऊपर लिखे दो शब्द उन्होंने पढ़े, उसे जेब में रखते हुए सिर हिलाया कि 'अच्छा' और अपनी बात का तार जहाँ से उन्होंने छोड़ा था, वहीं से पकड़ लिया।

दूर घिरे तूफ़ान की गंध पाकर जैसे कोई नन्हा-सा पक्षी उसके पहले झोंके को झेलने के लिए अपने घोंसले की निस्तब्धता में उत्सुक, उत्कंठित तना बैठा हो, वैसे ही मैं अपने कमरे की उस नीरवता में कुर्सी पर तना बैठा था। दो बजने को थे। देवनगर की चहल-पहल और शोर भी कुछ देर को थम गया था। लोग अपने विश्रामस्थलों में ग़प लगा रहे थे या देवमंडल के वर्तमान और भविष्य पर विचार-विनिमय कर रहे थे या देवनगरियों के प्रवचन सुन रहे थे— जो प्रायः देवा जी के प्रवचनों की कार्बन-कापी होते थे— या सरगोशियों में देवनगर अथवा देवनगरियों की आलोचना कर रहे थे या फिर केवल सुस्ता रहे थे। मैं प्रायः दोपहर को एक-आध घण्टा सोता था, पर सोने का तो दूर, लेटने तक का ध्यान मुझे नहीं आया। कुर्सी पर बैठा मैं प्रकट में देवा जी के लेख का अनुवाद करने की कोशिश करता

रहा, किन्तु आँखें मेरी बार-बार खिड़की की ओर उठ जाती थीं और कान दरवाज़े की ओर लग जाते थे। देवा जी—जैसा कि मैं इस बीच में उन्हें जान गया था— मुझे पूरा विश्वास था कि उस पत्र को पढ़ेंगे। पढ़ेंगे तो ज़रूर आयेंगे। उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी, यह भी मैं जानता था और वही प्रत्यक्ष देखने की उत्सुकता मुझे थी।

देर तक बैठे-बैठे अचानक मुझे ख़याल आया कि मैंने उन्हें तत्काल छुट्टी देने के लिए कहा है, यदि उन्होंने मेरा त्यागपत्र स्वीकार कर लिया ? ......और मैं कुर्सी से उठा ..'मुझे अपना सामान तैयार कर लेना चाहिए'... लगभग खदबदाते हुए मैं बड़ी तेज़ी से सामान समेटने लगा। जाने कहाँ से मुझमें इतनी स्फूर्ति आ गयी। अपनी किताबें-काग़ज़ मैंने समेटे। देवनगर की पुस्तकें-पत्रिकाएँ अलग कीं। कपड़े तह कर ट्रंक में रखे। रात चाहे मुझे गोरेशाह में बितानी पड़े, पर मैं आज यहाँ से चला जाऊँगा, बार-बार यही प्रण मैं मन-ही-मन करता रहा।

मैं अपना बिस्तर बाँध रहा था, जब दरवाज़े पर टिक-टिक हुई। मैं तैयारी में इतना निमग्न था कि बाहर देखना अथवा दरवाज़े की ओर ध्यान देना एक दम भूल गया था। टिक-टिक फिर हुई। "आ जाइए," बिस्तर बाँधते हुए मैंने कहा।

दरवाज़ा खुला। देवा जी माथे पर हलके-से तेवर लिये खड़े थे। बिस्तर का एक स्ट्रेप बँधा-का-बँधा रह गया और मैं मन्त्रमुग्ध सा बिस्तर पर घुटना टिकाये आधा झुका खड़ा रहा।

देवा जी मुझे बिस्तर बाँधते देखकर मुस्कराये। उनके माथे के तेवर मिट गये। बढ़कर उन्होंने मेरी पीठ को थपथपाया और कहा—"आपको न बिस्तर बाँधने की ज़रूरत है न सामान तैयार करने की,

आप यहाँ रहिए ! वाणी आपको या आप वाणी को प्यार करते हैं तो कोई बुरा नहीं करते। अभी वह नाबालिग़ है। बालिग़ होने पर वह जिस किसी से भी शादी करना चाहेगी, मुझे आपत्ति न होगी। आप तो सिक्ख हैं, पर वह चाहे तो किसी मुसलमान से शादी कर सकती है।"

"माता जी के रहते वह सिर्फ़ हिन्दू से शादी करेगी," मैंने कटुता से कहा।

देवा जी के माथे पर फिर हलके से तेवर उभर आये, पर सयत्न उन्हें मुस्कान में बदलकर उन्होंने कहा—"आप हमारे यहाँ आने लगे थे, मैं खुश हुआ था। आप आया कीजिए। कोई आपसे ईर्ष्या करता है तो वह अपना ख़ून जलायेगा, आप क्यों परेशान हों, सीधे रास्ते चलते जाइए और मुझपर विश्वास रखिए। आपको कष्ट न होगा।"

और मेरी पीठ थपथपाते हुए वे चल दिये। दरवाज़े पर कुछ याद आ जाने से वे मुड़े—"आपको वाणी का पत्र किसी दूसरे को न दिखाना चाहिए था।" उन्होंने अचानक कहा।

"मुझे जितनी यन्त्रणा दी गयी, उसमें दिमाग़ कैसे ठीक काम करता ?" मैं बोला। तनाव के एकदम हट जाने से मेरा गला एकदम भर आया था और मेरी आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। देवा जी फिर मुड़ आये। उसी तरह भरे गले और बहते आँसुओं से मैंने कहा—"मैंने वाणी के बदले आपकी ओर अपना कर्तव्य पहले समझा और वह पत्र जला दिया।"

"इसी का मुझे दुःख है," सामने शून्य में देखते हुए देवा जी ने कहा। और फिर निमिष भर रुककर बोले, "ख़ैर आप आया कीजिए। वाणी से पहले की तरह मिला कीजिए।"

"मैं तीरथराम नहीं," मैं बोला, "मैं वाणी का रास्ता भी न काटूंगा। उसे या आपको, माता जी, हरमोहन या तीरथराम—किसी को भी मैं परेशान नहीं करना चाहता, बस मैं शान्ति चाहता हूँ। काम चाहता हूँ। कोई मुझे न छेड़े, न परेशान करे, चुपचाप काम करने दे।"

"आपको कोई परेशान नहीं करेगा," और मेरी पीठ थपथपाते हुए देवा जी चले गये।

न जाने क्या-क्या तर्क-वितर्क मैंने मन में सोच रखे थे। कैसी आलोचना और कैसे क्रोध और क्षोभ से भरे वार्तालाप तैयार कर रखे थे। पर देवा जी ने मुझे एक शब्द भी कहने का अवसर नहीं दिया। चुपचाप आँसू पोंछता मैं बिस्तर पर बैठा रह गया।

ऐसी उम्मीद तो न थी, फिर भी उन के आने से पहले कभी-कभी खयाल आता था कि वे क्रोध करेंगे, मुझ पर या तीरथराम पर गुस्सा होंगे। लेकिन नहीं, अपनी भावनाओं को देवा जी ने पूरी तरह क़ाबू में कर रखा था। शायद वे मेरी ओर आने से पहले अपने प्रत्येक वाक्य और भावभंगिमा तक के बारे में सोचकर चले थे। मेरे कमरे से जाते समय क्रोध को यों दबा सकने की उस क्षमता पर, मन-ही-मन उन्हें सन्तोष हुआ होगा, लेकिन मैं बड़ी देर तक जलता-भुनता बिस्तर पर बैठा रहा।

अच्छा होता यदि वे मेरा त्यागपत्र स्वीकार कर लेते। उस घोर यन्त्रणा से मुझे छुटकारा मिल जाता, वह तनाव खत्म हो जाता और मैं एक रिहाई की साँस लेता। देवा जी के चले जाने के बाद, बार-बार मैं सोचने लगा कि चाहे उन्होंने मेरा त्यागपत्र स्वीकार नहीं किया, मुझे लटकता छोड़ दिया, पर मुझे बरबस इस डोरी

को काटकर मुक्त हो जाना चाहिए। उस सारे स्कैण्डल के बाद, मेरा वहाँ रहना कैसे होगा ?

लेकिन दूसरे क्षण में सोचता— स्कैण्डल होने की संभावना कहाँ है ? क्या ज्ञानी जी और देवा जी मेरी और वाणी की बात सबसे कहते फिरेंगे। मेरे तने हुए मस्तक ने न जाने क्या-से-क्या सोच लिया। ज्ञानी जी चाहे कितने भी क्यों न घबराये हों, पर देवा जी ने तो उस सारी घटना को कोई महत्व ही न दिया था। तब क्या इस तरह अचानक चले जाना ठीक होगा ? वाणी से बिना मिले, बिना उसे देखे ?

पर वाणी का ध्यान आते ही हृदय में दूर तक कुछ उतरता चला जाता। उसके प्रति मैंने कैसा अपराध किया है, यह तो मैंने सोचा ही न था। उसने लिखा था, इस चिट्ठी को पढ़ कर फाड़ देना, पर मैंने वह ज्ञानी जी को दिखा दी थी, देवा जी को पढ़ा दी थी। शायद उसका वह पहला प्रेम-पत्र था। उसे जला देने पर जब देवा जी ने खेद प्रकट किया तो पहली बार अपने कृत्य का अनौचित्य मेरे सामने स्पष्टतर होकर आ गया। अन्तर में कहीं गहरे में समझता था कि ज्ञानी जी अथवा देवा जी को चिट्ठी दिखा कर, अपने कर्तव्य का पालन करके, मैनें बहुत बड़ा काम किया है। उसके प्रेम को कुचल कर, वह सब लिखकर, जैसे मैनें देवा जी की आँखें खोल दी थीं और उस कर्तव्य-पालन के लिए नौकरी का बलिदान करने को तैयार होकर जैसे मैं अपनी आँखो में कहीं ऊँचा उठ गया था। लेकिन देवा-जी की उस हलकी सी डाँट के बाद लगा कि वाणी के उस पत्र को फाड़कर, जलाकर, उसे ज्ञानी जी को दिखाकर, देवा जी को पढ़ा कर, उसके भेद को उन सब पर प्रकट करके मैंने निहायत बुरा काम किया

है। उसके प्रति भी तो मेरा कुछ कर्तव्य था, मुझे चाहिए था कि मैं ज्ञानी जी की बात मान लेता और चुपचाप त्यागपत्र देकर चला जाता। कसक उसके मन में होती। कसक मेरे मन में रहती। पर वह कसक कितनी मीठी होती और उस पीड़ाभरी स्मृति में कितना सुख, कितना पुलक होता।

लेकिन उस कर्तव्य को मैंने कर्तव्य न समझा। अपने छोटे अकिंचन अहं को लेकर मैं तन गया। शायद मेरे हृदय का पात्र बड़ा ही छोटा था, प्रेम के अमृत को अपने में सँजो पाने की सामर्थ्य उसमें न थी और अपनी अपात्रता से उसने उसे छलका दिया था... इस सब के बाद मैं वाणी से कैसे आँखें मिला पाऊँगा? लेकिन उस कृत्य के लिए उससे क्षमा माँगे बिना जा भी कैसे सकूंगा?... ओर अचानक वहीं बिस्तर पर बैठे- बैठे मैं अपनी दृष्टि में आप ही बहुत छोटा हो गया और मेरा शरीर जैसे बिस्तर से चिपक गया और बाहर शाम धीरे-धीरे बढ़ आयी।

प्रैक्टिकल स्कूल में समारोह शुरू हो गया, लेकिन मैं अपने कमरे में, बँधे बिस्तर से जैसे चिपका-सा बैठा रहा।

न जाने मैं कब तक वैसे ही बैठा रहता, यदि ज्ञानी जी अचानक दरवाजा खोल कर अपनी लम्बी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए अन्दर न आ जाते।

"अरे भाई संगीत, तुम यहीं बैठे हो, और वहाँ सब तुम्हारी बाट देख रहे हैं।"

"मेरी?"

"हाँ, तुम्हारी," अपनी लम्बी खिचड़ी दाढ़ी पर फिर प्यार

या देव। जी ने उसे ज़रूर परेशान किया है,' मैंने मन-ही-मन सोचा। वहीं से उसने उसी तरह सिर झुकाये-झुकाये ऊपर को मेरी ओर देखा। जाने उस निगाह में क्या था जो दूर तक अन्तर में उतरता चला गया....और मैं गाने लगा....

सुनो-सुनो हे कृषन काला
आयी तोरे द्वार
सुनो मेरी पुकार
सुनो-सुनो, हे बांसुरीवाला।

सहगल का वह अमृत घुला कण्ठ, वह सोने का-सा स्वर, वह लोच. वह लय—कुछ भी मेरे पास न था, पर न जाने वाणी के सामने रंगमंच पर खड़े कैसी तन्मयता आ गयी कि अपनी सारी भावना से, भूत-भविष्य-वर्तमान की सुध-बुध भुलाये, मैं गाता रहा। मेरा कण्ठ आर्द्र हो गया, मेरी आवाज़ काँपने लगी, प्रेम की मारी उस गोपी के हृदय का सारा दर्द मेरी उस पुकार में आ गया। आँखें बन्द किये पूर्णरूप से तन्मय होकर मैं गा रहा था—

जैसी जी चाहे बातें बनायें।
बातें बनाये जैसी जी चाहें।
कहे राधा भी मोहे कलंकिनी...

कि हलकी-सी सिसकी मुझे सुनायी दी। देखा रूमाल से आँखें पोंछती और नाक साफ़ करती वाणी उठी और चुपचाप निकल गयी।

किसी-न-किसी तरह गीत खत्म करके मैं मंच से हटा। मेरी अब कुछ वैसी जरूरत भी न थी। ज्ञानी जी ने भी मुझे परामर्श

दिया कि मैं थक गया हूं, मेरी तबीयत भी ठीक नहीं है, मैं आराम करूं। और मैं चुपचाप अपने बंगले की ओर बढ़ा। लेकिन सभा-मण्डप के बाहर ही हरमोहन ने मेरा कंधा थाम लिया।

"किधर चले यार?"

अचानक पहली बार वैसी बेतकल्लुफ़ी से उसने मुझे पुकारा। मेरे रुकने पर मेरी गर्दन में बिल्कुल जिगरी दोस्तों की तरह हाथ डाले वह मुझे स्कूल के पिछवाड़े ले गया।

"मुझे तुम्हारे जाने की इच्छा का पता चला है," उसने कुछ दूर जाकर कहा, "तुम किसी तरह की चिन्ता न करो। मुझे सब मालूम है। मैंने वाणी से पूछा है। तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं। तुम अपना काम करो और मस्त रहो।" कुछ क़दम और चलकर वह सहसा बोला—"एक बात पूछूं?"

मैंने केवल सिर हिलाया कि पूछो।

"क्या तुम्हें भी वाणी से प्रेम है?"

यदि उत्तर के लिए हरमोहन मेरे ओठों की ओर देखने के बदल मेरे हृदय पर हाथ रखता तो उसे तत्काल ठीक-ठीक उत्तर मिल जाता। लेकिन वह तो मेरे मुंह की ओर तक रहा था।

"यदि मैं उससे सचमुच प्रेम करता तो क्या मैं उसकी चिट्ठी ज्ञानी जी को देता या उसे तीली दिखा देता?"

हरमोहन सन्तुष्ट हो गया। हालांकि वह सुबह मुझसे यही प्रश्न पूछता तो मैं कभी यह दलील न दे सकता। यह तो देवा जी ही ने मुझे सुझा दी थी और मन-ही-मन मैं इस पर खुश हुआ। मैंने रद्दा जमाते हुए आगे कहा—"सवाल यह नहीं कि मैं वाणी से प्रेम करता हूं या नहीं? अपने मन में तो कोई सम्राज्ञी से प्रेम

कर सकता है। सवाल यह है कि मेरा व्यवहार उसके या देवसेना के प्रति आपत्तिजनक तो नहीं!"

"हाँ, हाँ, सो तो है," हरमोहन ने कहा, "तुम जरा भी चिन्ता न करो! अपने काम से काम रखो और मस्त रहो।"

और उसने मुड़कर सरदार पालासिंह आर्टिस्ट द्वारा तैयार किये हुए गेट के पास मुझे छोड़ दिया।

रूमाल से सिसकी को दबाती और आँखें पोंछती वाणी मेरे गाने की पहुँच के बाहर जो गयी तो मुझे लगा कि फिर नहीं लौटी। उसकी उन आँखों में झांकना फिर मुझे नसीब न हुआ, उसकी वह दूर जाती पीठ ही सदा मुझे दिखायी दी।

उद्घाटनोत्सव के दूसरे दिन ही माता जी उसे और मधु को स्कूल के होस्टल में ले गयीं। वह होस्टल में रहने वाले दूसरे बच्चों के साथ ही खाना खाती, उनके साथ ही सोती और खेलती। दूर से उसकी झलक मिलना भी कठिन हो गया। स्कूल का अहाता बड़ा खुला था, अहाते के गिर्द चहारदीवारी थी। उसी में बच्चे खेलते थे। कभी जब वे प्रातःसैर को जाते या शाम को हॉकी खेलते तो वाणी भी चहार-दीवारी के बाहर निकलती, पर वह कोठियों की ओर न आती। वहीं ग्राउण्ड के परे, अपनी किसी सहेली के साथ बातें करती हुई टहला करती!

तब मुझे पहली बार महसूस हुआ कि मेरा क्या कुछ खो गया है! दोपहर और शाम को डाइनिंगहाल की वह गहमागहमी और शोर, दिल के सूनेपन को और भी वीरान कर देता। आँखें बार-बार पहली मेज़ों की ओर उठ जातीं, असफल और नाकाम लौटतीं और खिड़कियों, दरवाज़ों और उनके बाहर देवनगर की रविशों पर

बेक़रार भटकतीं। दमकती सुबहें आँखों में चुभने लगतीं और गर्म शामें अपने बोझ से सीने को ऐसे दबातीं कि जी घुटने लगता।

उस दिन का गया दिलजीत पन्द्रह दिन बाद फिर आया। तब वाणी भी उस क़ैदखाने की चहारदीवारी से बाहर निकली। शाम के वक्त कोठियों के बाहर सड़क पर अपने भाई के साथ-साथ आती हुई वह मुझे मिल गयी। दिलजीत ने 'नमस्कार' किया। वह रुका, लेकिन वाणी बढ़ती गयी और कुछ दूर पर हमारी ओर पीठ किये जा खड़ी हुई।......मैं फिर सैर नहीं कर सका, चुपचाप अपने कमरे में लौट आया। दूसरे दिन मैंने देवा जी से विनय की कि किचन के परे तीन-तीन कमरों की जो छोटी-छोटी नयी कोठियाँ बन रही हैं, उनमें से मुझे एक दे दें।

अब तक कमरे का किराया मुझ से न लिया जाता था। जब मैंने वह छोटी-सी कोठी देने के लिए कहा तो मुझसे कहा गया कि मुझे उसका आठ रुपया किराया देना होगा। बाहर के लोग देवनगर में कोठियाँ बनवा रहे हैं, उन्हें उनके रुपये का कम-से-कम ब्याज ज़रूर मिल जाय, यह ज़िम्मेदारी देवसेना की थी और देवा जी की योजना थी कि स्कूल के अध्यापक आदि सब नयी कोठियों में रहें। ज्यों-ज्यों नयी कोठियाँ बनती जायँ, देवनगर की सरगर्मियाँ बढ़ा दी जायँ ताकि उन कोठियों में लगा रुपया डूब न जाय।

आठ रुपया देना मैंने स्वीकार कर लिया और दूर उस अकेली कोठी में उठ गया। पहले कभी-कभी ज्ञानी जी आ जाते थे, लेकिन उतनी दूर वे क्या आते? मैं एकदम अकेला पड़ गया। ख़ूब काम करता और ख़ूब सोचता। साँझ को सैर करते-करते कभी वाणी की एक-आध झलक मिल जाती, लेकिन दिनों उसकी सूरत दिखायी न

देती। उसका चांचल्य न जाने कहाँ चला गया? न जाने उन चन्द दिनों में वह कितनी बड़ी और गम्भीर हो गयी? बच्चों को सैर के लिए ले जाते समय कभी नहर के रास्ते में वह दिखायी पड़ जाती—सुता-सुता गम्भीर चेहरा, गहरी उदास आँखें। वह मेरी ओर न देखती। मुंह फेर लेती और उसके बाद दिनों तक देवनगर का वह रसा-बसा वीराना मुझे काट खाने को दौड़ा करता।

पहले कभी मैं नन्दलाल के यहाँ चला जाता। लेकिन उस घटना के बाद न जाने कैसा संकोच मेरे मन में आ बैठा कि मैंने एकदम वहाँ जाना छोड़ दिया। जाने क्यों मुझे विश्वास हो गया कि मैं वहाँ जाऊँगा तो सावित्री मुझसे त्यागपत्र की बात पूछेगी। उसकी स्नेहभरी जिज्ञासा को किसी झूठ से शान्त करना मेरे बस में न होगा और सच्ची बात कहना वाणी के राज़ को और फैलाना होगा। वह पहले ही कितनी चुप, कितनी उदास, कितनी गम्भीर हो गयी थी। न जाने मुझ पर उसे कितना क्रोध था। एक बार भी तो उन बड़ी-बड़ी आँखों से उसने मेरी ओर न देखा था। गर्मी बढ़ गयी थी। चाँद धीरे-धीरे सुलगता हुआ अपनी बेचैन आँखें खोले उस वीराने को मुटर-मुटर तका करता और मैं अपनी उनींदी आँखों में शत-शत प्रश्न लिये हुए उन सुनसान रविशों पर घूमा करता। कभी-कभी तीरथराम मुझे मिल जाता, पर हम में दुआ-सलाम तक का आदान-प्रदान न होता। वह अपने रास्ते चला जाता और मैं अपने।

मैंने गाना तक छोड़ दिया। लगा कि गाना ओछापन है और मेरे अहं को यों ओछा होना स्वीकार न था। अपने हृदय की टीस को हृदय में दबाये, अपने एकाकीपन को जैसे चादर-सा अपने ऊपर ओढ़े, मैं उस सूनी कोठी में जा बैठा।

।



उद्घाटनोत्सव का दिखावा समाप्त हो जाने के वाद रामा थापा के वच्चे हीरा और नवी का अस्तित्व माता जी को प्रैक्टिकल स्कूल के मक्खन में वाल सरीखा खटकने लगा। प्रैक्टिकल स्कूल में दाखिल होने वाले वच्चे उच्च-मध्य-वर्ग से सम्वन्ध रखते थे— डाक्टरों, अफ़सरों, ठेकेदारों और व्यापारियों के वच्चे थे— चुस्त, चाक-चौवन्द, साफ़-सुथरे और लाडोंपले! अधिकांश उनमें विगड़े हुए थे। वे दोनों ग़रीव वच्चे उनसे पिट जाते, अपमानित होते और माता जी दूसरे वच्चों को समझाने के वदले उन्हीं पर खीझतीं और निरन्तर देवा जी से अनुरोध करतीं कि वे हीरा को स्कूल से हटा दें। जव देवा जी किसी तरह तैयार न हुए तव माता जी

ने उन्हें उन्हींकी भापा में कहा कि बच्चा हीन-भाव से जीवन भर दवा रहेगा, उसका व्यक्तित्व उभर न पायगा, आप स्कूल के एक टीचर को उसे अलग से पढ़ाने के लिए चाहे लगा दें, पर उसे स्कूल में न रखें।

देवा जी माता जी के इस निरन्तर कोंचने से परेशान हो गये थे। स्कूल से वे जो चाहते थे, उन्हें मिल गया था, काफ़ी बच्चे आ गये थे और उनकी शिक्षा-दीक्षा उनकी आँखों के सामने हो सके, इस विचार से कुछ माता-पिताओं ने वहाँ प्लाट भी ले लिये थे और छोटी-वड़ी कोठियाँ दिन-रात बन रही थीं। देवा जी का दिमाग़ अब ऐसी स्कीमों में लगा हुआ था, जिनसे वे उस वीराने में रहने वालों के लिए रोज़गार जुटा सकें। माता जी ने उस बच्चे के लिए अलग से ट्यूशन का परामर्श दिया तो देवा जी प्रसन्न हुए और उन्होंने रामा थापा को बुलाकर बड़े प्यार से समझा दिया कि वे हीरा की उन्नति से प्रसन्न हैं, स्कूल में टीचर व्यक्तिगत रूप से उस पर ध्यान नहीं दे सकते और वे चाहते हैं कि हीरा सब लड़कों को पीछे छोड़ जाय औद देव-नगर का नाम रोशन करे। इसलिए उन्होंने यह सोचा है कि एक अध्यापक उसे व्यक्तिगत रूप से घर पर पढ़ाये। "घर पर शायद जगह न हो।" उन्होंने कहा, "मैं दोपहर को ड्योढ़ी में उसके पढ़ने का प्रवन्ध कर दूंगा।"

और एक टीचर हीरा को ड्योढ़ी में पढ़ाने लगा। सप्ताह भर वह ड्योढ़ी में पढ़ा, फिर देवा जी ने कहा कि वहाँ उसके पढ़ने से पुस्तकालय में बैठनेवाले देवसैनिकों को असुविधा होती है और बच्चे की पढ़ाई में भी खलल पड़ता है और यह कहकर उसे वहाँ स हटा दिया। दो-चार दिन अध्यापक उसे घर पर पढ़ाने जाता रहा, फिर

वह बीमार पड़ गया और इसके साथ ही हीरा की प्रतिभा के सिलसिले में देवनगरियों का जोश ठंडा हो गया।

इधर गुलाम नबी के बारे में दबे-दबे यह अफ़वाह फैली कि उसे चोरी की आदत है। वाणी ने तो कभी ऐसी शिकायत न की थी, पर उद्घाटनोत्सव के बाद ही माता जी ने उसे नबी को पढ़ाने से रोक दिया था। स्नेह के अभाव में शायद वह भटक गया और आखिर एक दिन वह किताबें लेकर सुबह-सुबह चला आया। पूछने पर पता चला कि माता जी ने उसे स्कूल से निकाल दिया है।

माता जी से मेरा 'नमस्कार' का भी नाता न था कि मैं उनसे जाकर पूछता। देवा जी से लेख लेने गया तो मैंने उन से पूछा कि नबी को क्यों स्कूल से निकाल दिया गया है? स्कूल का तो उद्देश्य ही बच्चों को सुधारना है। क्या नबी की इस आदत को सुधारा न जा सकता था?

"उस बच्चे के लिए स्वयं मेरे मन में बड़ी हमदर्दी है," देवा जी बोले, "मैं स्कूल का प्रिंसिपल होता तो उसे कभी स्कूल से न निकालता और सुधार कर सबको दिखा देता। प्यार के अभाव में बच्चे चोरी करने लगते हैं। मैं निश्चय ही उसकी आदत छुड़ा देता। लेकिन वर्तमान प्रिंसिपल और माता जी के बस का यह रोग नहीं और नबी की बुरी आदत का असर दूसरे लड़कों पर पड़ना जरूरी है, इसलिए माता जी ने सिफ़ारिश की है कि उसे घर पर पढ़ाया जाय। मैंने एक टीचर को उसे दो घंटे पढ़ाने के लिए कह दिया है।"

"खैर, उसकी कोई वैसी जरूरत नहीं, दो घंटे तो मैं भी पढ़ा सकता हूं।"

और उस दिन से मैं नवी को पढ़ाने लगा। दो-तीन दिन वाद हीरा भी आ गया, और मेरी शामों का सूनापन ग़ायव हो गया। वाणी के होस्टल चले जाने के वाद जी का गला घोंटती-सी उदासी, हार-वेकार जीने और वीरान से वीरानतर होने का जो अहसास मन-प्राण पर छाया जा रहा था, वह एकदम हवा हो गया। मैं जी-जान से दोनों वच्चों को पढ़ाने लगा। जव वे चले जाते तो मैं उन्हींके वारे में सोचता। शहर जाकर मैं वच्चों की शिक्षा-प्रणाली के सम्वन्ध में पुस्तकें खरीद लाया और मिशनरियों के-से जोश से उन दोनों वच्चों को पढ़ाने लगा।

लेकिन नवी को सचमुच चोरी की आदत थी। पहले तो मैंने समझा था कि माता जी ने उसे स्कूल से निकालने के खयाल से उसपर यह अभियोग लगाया है, लेकिन जव नवी पूरे दिन बँगले पर रहने लगा तो कुछ ही दिनों में मुझे पता चल गया कि आदत चाहे पहले से हो, चाहे स्नेह के अभाव में पड़ गयी हो, पर वह थी उसमें ज़रूर। मैं खाने के लिए कभी चिलग़ोज़े कभी मुंगफली, कभी वादाम और कभी रस्क लाता। नवी उनमें से कुछ उड़ा ले जाता। जिस ग़रीव वच्चे ने वह सव न देखा हो, खुली चीज़ें पाने पर उसका मन ललचा जाना स्वाभाविक है, जव तक कि उसे अन्यथा शिक्षा न दी गयी हो। लेकिन माता ज़ी के अभियोग को सुनकर मैंने तय कर लिया था कि यह शिक्षा मैं उसे दूंगा, उसकी आदत सुधार दूंगा और पहले ही दिन से मैं सावधान हो गया था।

'देववाणी' में वच्चों की इस आदत के वारे में स्वयं देवा जी के कई लेख मैंने पढे थे, उनकी लायव्रेरी से लेकर वच्चों के मनोविज्ञान

पर कुछ पुस्तकें भी मैंने देखी थीं और मुझे पूरा विश्वास था कि उस बच्चे की आदत सुधर सकती है। सावधानी के तौर पर मैं हर चीज़ गिन लेता। यदि मैं उस सावधानी से काम न लेता तो मैं नवी को न पकड़ पाता, न उसका सुधार कर पाता, क्योंकि वह बड़ी सफ़ाई से चोरी करता था। इस मामले में वह एकदम कलाकार था।

......एक दिन मैं एक सेब खा रहा था कि देवा जी ने मुझे बुला भेजा। आधा सेब मेज़ पर ही छोड़कर मैं उनसे मिलने चला गया। वे एक लेख के बारे में मुझे कुछ समझाना चाहते थे, पर ढूंढ़ने पर उन्हें मालूम हुआ कि लेख वे मुझे पहले ही दे चुके हैं। उन्होंने मुझे वह लेख लाने के लिए कहा ताकि वे समझा सकें कि वे क्या चाहते हैं।

मैं उलटे पाँव वापस आया। कोठी पर आकर मैंने लेख उठाया। चलते-चलते मेज़ पर पड़े सेब पर निगाह गयी, लगा कि जैसे एक ओर कुछ कम है। मैंने तो एकदम बीच से काटा था पर उसे देखकर लगा जैसे एक ओर से किसी ने ज़रा सी फाँक काट ली है। लेकिन मैं जल्दी में था, उस ओर ध्यान न दिया। जब मैं लेख समझ कर वापस आया और मेज़ पर बैठ कर सेब खाने लगा तो मैंने देखा कि वह दोनों ओर से बराबर है। मैंने उसे उठा लिया। वह आधे से कुछ कम था, जबकि मैं आधे से कुछ बड़ा छोड़ गया था। नवी ने दोनों ओर से बड़ी सफ़ाई से बराबर-बराबर टुकड़े काट लिये थे। बादाम और चिलग़ोज़े भी वह एक साथ ज्यादा न चुराता था। कभी चार, कभी छः। उसके सब्र और संतोष की मैं दाद देता हूँ। सामने पड़ी चीज़ को देखकर, चोरी की आदत है तो, इतने संयम से काम लेना बड़ा कठिन है। मैं एक कागज़ पर रोज़ नोट कर लेता कि आज उसने

इतने बादाम चुराये हैं, आज इतने चिलग़ोज़े, इतने रस्क या इतने मूंगफली के दाने। छः दिन तक मैं यह हिसाब लिखता रहता, सातवें दिन बड़े प्यार से उसे समझाता कि उसे चोरी न करनी चाहिए, चीज़ दरकार हो तो माँगकर लेनी चाहिए। जब वह कसमें खाता और कहता कि वह कभी चोरी नहीं करता, तो मैं उसे बता देता कि उसने किस दिन क्या चोरी की? नबी की आँखें हैरत से खुल जातीं। मैं उससे कहता—"तुम चोरी करते हो तो मुझे पता चल जाता है, फिर तुम क्यों चोरी करते हो?" और उसे चिलग़ोज़े, बादाम, रस्क या मूंगफली—जो भी उस समय होता—खाने को दे देता।

कुछ दिन नबी चोरी न करता। लेकिन मैं बराबर गिनती करता रहता—और पाँचवे-छठे दिन देखता कि फिर चीज़ें ग़ायब होने लगीं हैं। मैं फिर वैसे ही नोट करना शुरू कर देता। इसके साथ ही मैं कोनों-अंतरों में पैसे फेंक रखता और देखता कि किस दिन वे ग़ायब होते हैं, इधर-उधर मिश्री की डलियाँ रख देता और ध्यान रखता कि किस दिन कौन डली उठी और उसकी सभी चोरियाँ मैं सातवें दिन उसे बता देता। इसके साथ ही पढ़ाई के समय मैं उसे ऐसे महान लोगों की बातें सुनाता जो बड़े ही विपन्न परिवारों में जन्म लेकर महान कहलाये। धीरे-धीरे नबी की चोरी की आदत कम होते-होते बिल्कुल मिट गयी। मैं बड़ा खुश हुआ और एक अनिर्वचनीय गर्व की भावना से मेरा सीना भर उठा।

मई का दूसरा हफ्ता जा रहा था। दिन तप उठे थे और वीरानों में बगूले उठने लगे थे। देवनगर में गर्मी गुज़ारने का यह मेरा पहला

अवसर था। आठ बजे ही धूप ऐसे दमकने लगती कि आँखें खोलना मुश्किल हो जाता। प्रेस और दफ़्तर तो नबी ही जाता, लेकिन देवा जी से लेख लेने मुझे ही जाना होता। कई बार जब कातिब या कम्पो-ज़ीटर लिखित आदेश न समझते तो उन्हें समझाने के लिए दफ़्तर और प्रेस जाना पड़ता। न जाने धूल पड़ गयी या धूप लग गयी कि मेरी आँखें आ गयीं। पत्थरचट्टी के हकीम साहब को बुलाया गया, उन्होंने रसौन्त, धनिया, मुश्क-काफ़ूर इत्यादि की पोटली बनाकर पानी में भिगो, आँखों पर टकोर करने को कहा और आदेश दिया कि रात को रुई के फाहों पर मलाई रखकर बाँधूं। देवनगर की कोठियाँ और उनके कमरे काफ़ी हवादार और रोशन थे। दुखती आँखें, चमकती-दमकती, तपती दोपहरें......उनमें से किसी कमरे में भी लेटना मुश्किल दिखायी देता। मैं स्नानागार में (क्योंकि वही अपेक्षाकृत ठंडा और अँधेरा था) शीतलपाटी बिछाकर दुपहर भर लेटा रहता और आँखों पर टकोर किया करता।

उस दिन सुबह मेरे गाँव से कुछ मेहमान आ गये। उन्होंने दो छोटी-छोटी कोठियों के लिए जगह ली थी और उन्हें बनवाने के सिलसिले में वे नन्दलाल से ठेके की बात करने आये थे। वे सीधे मेरे यहाँ आये और हैंड-बैग ड्राइंगरूम में रखकर नन्दलाल से मिलने चले गये। मैं दस बजे ही स्नानगृह में शीतलपाटी पर जा लेटता। खाना मेरा नबी ले आता और मैं वहीं स्नानगृह में खाना खाता। उनके साथ मैं नहीं जा सका। खाना खाने के बाद वे आये और मुझसे विदा ले, अपना बैग उठाकर चले गये।

नबी प्रायः मुझे खाना खिलाकर बाहर कमरे में बैठा पढ़ता रहता था। उस दिन वह मेरे पास आ बैठा, मेरी आँखों पर टकोर उसी ने

की। "बाहर खिड़की खुली है," सहसा टकोर करते-करते उसने कहा—"कोई उस रास्ते बाहर से आकर कुछ उठा न ले जाय।"

मैं हँसा। "मैं दरवाज़ा खुला छोड़कर चला जाता हूँ, कभी एक पैसे की चीज़ नहीं गयी, हमारे अन्दर रहते कौन उठा ले जायगा?"

पर वह उठा और खिड़की बन्द कर आया। वह मुझसे कुछ डरता था और मेरे पास कम ही बैठता था, पर खिड़की बन्द करके वह फिर आ बैठा और टकोर करके उसने मेरे पैर भी दबाये और मुझे एक पंजाबी देहाती गीत भी सुनाया, यहाँ तक कि मेरी आँखों में गनोदगी छाने लगी और मैं सो गया। जागा तो नन्दलाल मेरे सिरहाने खड़ा था। शायद उसी ने मुझे जगाया था।

"मैं तुम्हें कभी न जगाता," उसने कहा, "तुम ऐसी गहरी नींद सोये थे, पर बात कुछ वैसी हो गयी है।"

मैं उठकर बैठ गया।

"जसवन्त सिंह तुम्हारे गाँव से आये हुए हैं न......"

"हाँ, हाँ, मेरे ही यहाँ तो आये थे। मेरी आँखें खराब थीं, नहीं तो मैं उन्हें स्वयं लेकर आता,"......मैंने बेसब्री से कहा।

"उन्होंने अपना बैग तुम्हारे यहाँ रखा था, चलते वक्त तुम्हारे यहाँ से बैग लेकर गये तो उन्हें मालूम हुआ कि उसमें से मनी बैग गुम है। पचास रुपये थे उसमें। वे तो बड़े संकोच में पड़े थे।"

अचानक मुझे नबी का खिड़की लगाना, मेरी आँखों पर अपने आप टकोर करना, मेरे पैर दबाना, मुझे गाना तक सुनाना याद आ गया और मैंने कहा—"नबी ने उठाये होंगे। कहाँ है वह?"

नन्दलाल ने धीरे से कहा, "मुझे खुद उसपर शक हुआ था उसे पकड़-मँगाकर मैंने उसे डाँटा तो उसने मान लिया कि उसने

उठाये थे, पर एक मजदूर न उससे ले लिये। मैंने घंटे भर से सब मजदूरों को बैठा रखा है, वह कभी किसी का नाम लेता है कभी किसी का। सब कसमें खाते हैं। वह झूठ बोलता है। किसी और ने नहीं उठाये, उसी न उठाये हैं।"

मैंने कहा—"ज़रा उसे बुला दीजिए!"

मैं उठकर वाहर बैठक में आया। नवी वाहर वरामदे में ही था, नन्दलाल ने उसे आवाज़ दी। वह अन्दर आया। चेहरा सुता हुआ था और आँखे उसकी डरी हुई थीं।

"नवी भाई, तुमने वटुआ उठा लिया। वे आदमी हमारे मेहमान हैं, उनकी चीज न उठानी चाहिए थी। लाओ दे दो।"

वह मेरे क़दमों पर गिर पड़ा। एक साँस में कई क़समें खा गया। खुदा दी सौंह* वावू जी, रव्व दी सौंह वावू जी, माँ दी सौंह वावू जी, कुरान माजीद दी सौंह वावू जी मैंने नहीं उठाये।"

वह क़समे खाता गया कि उसने रुपये उठाये हों तो वह खड़ा-खड़ा मर जाय, उसकी माँ मर जाय, उसे साँप सूंघ जाय और मैं चुपचाप आँखों पर हाथ रखे, खिड़की से आने वाली रोशनी की चमक से उन्हें वचाता हुआ उसके मुंह की ओर तकता रहा। फिर मैंने अंग्रेज़ी में नन्दलाल से कहा कि वह मुझे उससे अकेले में वात करने दे।

नन्दलाल चला गया तो मैंने नवी के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "देखो भाई, मुझे तो पहले से ही पता है कि तुमने आज कुछ

---

* खुदा की सौगंध

उठाया है, मेरी कोई क़ीमती चीज़ उठायी है, मेरा ऐसा खयाल था। पर किसी मेहमान का बटुआ उठा लिया है, इसकी कल्पना न थी......"

"बाबू जी, क़सम खाता हूँ, मेरी माँ मर जाय अगर......"

"देखो नबी, क़समें न खाओ, चुपचाप बटुआ ला दो, खुद परेशान होगे, मुझे परेशान करोगे, तुम्हारी बुढ़िया माँ है, वह परेशान होगी, अपने साथ उसे थाने में धक्के खिलवाओगे, तुम्हें शरम न आयेगी?"

क्षण भर में चुप रहा। वह भी चुप रहा। उसने और क़सम नहीं खायी, बस फ़र्श की ओर तकता रह गया।

मैंने उसके कंधे को थपथपाया। "देखो, जब बटुआ इस कमरे से गया है तब या तुमने उठाया है या मैंने। मैं तो तुम जानते हो उनके आने के पहले से अन्दर लेटा हूँ। बटुआ न मिलेगा तो मेरी भी बदनामी होगी। तुम्हारे साथ जो मैंने थोड़ी बहुत नेकी की है उसका यही इनाम तुम दोगे मुझे?"

वह फिर चुप रहा। मैंने फिर कहा, "देखो, तुमने जब-जब चोरी की है, मुझे पता चल गया है, आज भी पता चल गया कि रुपये तुमने चुराये हैं। तुम्हारे मन में सुबह से ही चोर था। रोज खिड़की खुली रहती है, पर तुम्हें कभी उसे बन्द करने की चिन्ता नहीं हुई। तुम मेरे पास भी ऐसे कभी नहीं बैठे। तुम्हारी इन हरकतों को देखकर मुझे शुबह हो गया था कि तुमने जरूर चोरी की है।"

नबी फिर भी चुप रहा।

"तुम तो बड़े छोटे हो। पुलिस बड़े-बड़ों से इक़बाल करवा लेती है। ऐसी सज़ा देती है कि आदमी बिलबिला उठता है और

बरसों के लिए बेकार हो जाता है। तुम्हारी माँ तुम्हें इस मुसीबत में देखकर ही मर जायगी।"

नबी चुप रहा और पाँव के अँगूठे से सीमेंट का फ़र्श कुरेदता रहा।

"देवनगर में ही नहीं, तुम्हें कहीं भी नौकरी न मिलेगी। तुम तो समझदार हो, जानते हो कि तुम्हारे घर का खर्च तुम्हारी पगार से चलता है।"

क्षण भर हम दोनों चुप रहे। फिर मैंने उसके कंधों को थपथपाया और कहा—

"देखो, मुझे बटुआ दे दो। मैं तुमसे वादा करता हूँ, तुम्हें नौकरी से नहीं निकालूंगा, तुम्हारी माँ से भी नहीं कहूँगा और चाहे देवनगर वाले कितना भी शोर मचायें तुम्हें अपने पास रखूंगा।"

"मैं कल दे दूंगा।" अचानक उसने कहा।

"घर तो तुम गये नहीं, तुमने यहीं कहीं छिपाया है। देखो, बटुआ दे दो। तुम्हें कोई घर न जाने देगा। सीधे यहाँ से हवालात ले जायेंगे—तुम्हारी माँ रो-रो कर मर जायगी। मुझे बटुआ दे दोगे तो मैं तुम पर ज़रा भी आँच न आने दूंगा।"

"चलिए!"

"कहाँ?"

"वहाँ खेत में छिपा रखा है।"

बाहर दुपहरी नाच रही थी। धूप इतनी तेज़ थी कि आँखें न उठती थीं। वीराने में लहरिए बनते और धूल उड़ती। अच्छी भली आँखों वाले उन्हें ढक कर चलते। मेरी आँखें यों भी आयी हुई थीं। मैंने एक रुएँदार मोटा तौलिया उठाकर सिर और आँखों को ढक लिया और नबी के पीछे हो लिया।

स्कूल की ग्राउण्ड के पार, वनौली की ओर, खड़े गेहूँ के एक पके खेत में, जो अभी कटा न था, वह मुझे ले गया। वहीं एक कोने में ज़रा-सी धरती खोद, बटुआ निकालकर उसे अपनी कमीज़ के दामन से झाड़कर उसने मुझे दे दिया। उसे तौलिये के अन्दर ले जाकर, अपनी आँखें धूप से बचाते हुए, उसे खोलकर मैंने नोट गिने। पाँच-पाँच के दस थे। मैंने सुख की साँस ली और सहसा नबी को बगल में लेकर स्नेह से दबा लिया। "घबराओ नहीं, तुम्हें कोई कुछ न कहेगा!" उसे शाबाशी देते हुए मैंने कहा, "न मैं तुम्हें नौकरी से जवाब दूंगा, न तुम्हारी माँ से कहूँगा और न पढ़ाना बन्द करूँगा!"

लेकिन मेरे प्रण की परीक्षा का समय जल्दी ही आ गया—इतनी जल्दी कि मैंने कल्पना भी न की थी।

तीसरे ही दिन दोपहर को हरमोहन पत्थरचट्टी के हकीम साहब के साथ आया।

"दिलजीत को देखने हकीम साहब आये थे, चलते समय मैंने कहा कि संगीत जी को भी देखते चलिए......"

"दिलजीत को क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं, पित्त बढ़ गयी है न," हकीम साहब बोले, "ठीक हो जायगा जल्दी।" फिर मेरी आँखों के पलक उठाकर उन्होंने कहा कि पहले से आराम है और परामर्श दिया कि मैं पोटली की टकोर जारी रखूं।"

और वे चल दिये।

हरमोहन क्षणभर को रुक गया। "तुमने अभी तक नबी को रख छोड़ा है!" वह बोला।

"क्यों?" मैंने उसकी बात समझने के बावजूद पूछा।

"वह चोर है, तुम्हें फिर चकमा देगा।"

"बच्चा है, ठीक हो जायगा।"

"अरे, भला ये आदतें भी कभी जाती हैं?"

"आप शायद 'देववाणी' नहीं पढ़ते। देवा जी तो सदा इसपर जोर देते हैं कि बच्चों की ये आदतें दूर की जा सकती हैं।"

हरमोहन ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। "माता जी ने कहला भेजा है," उसने कहा, "कि नबी यहाँ नहीं रह सकता!"

इसका 'मैंने' कोई उत्तर नहीं दिया।

"ऐसी जल्दी नहीं, तुम्हारी आँखें ठीक हो जायँ, तब उसे जवाब दे देना, लेकिन उसके रहने से तुम्हें ही नहीं, हमें भी डर है।"

उत्तर में मैंने करवट बदली और मुंह दीवार की ओर कर लिया। तभी हकीम जी ने आवाज़ दी और हरमोहन माता जी के आदेश को सुनाता हुआ चला गया।

दूसरे दिन अभी सुबह मैं स्नानगृह में शीतलपाटी बिछा कर लेटा ही था कि देवा जी आ गये। मैं शीतलपाटी पर बैठ गया।

उन्होंने नबी से कहा कि बाहर बरामदे में जाकर बैठे, कोई उनके सम्बन्ध में पूछे तो उन्हें अन्दर आकर खबर दे।

नबी चला गया तो उन्होंने मेरी आँखों का हाल पूछा। मैंने कहा, "दो एक दिन में ठीक हो जायँगी, पहले से आराम है।"

"आराम है तो ठीक है," वे बोले, "नहीं मैं सोचता था कि पत्थरचट्टी के अस्तपाल से डाक्टर को बुलवायें।"

जाने वह बाहर क्या-क्या सुनता रहा था। जाने वह कितना डर गया था!

"दार जी मैं कभी चोरी न करूँगा। आप मुझे निकालिए नहीं।"

मन कुछ अजीब-सा भर आया। बायें हाथ से खींच कर मैंने उसे सीने से लगा लिया और उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा:

"तुम फ़िक्र न करो। जब तक मैं यहाँ हूँ, तुम मेरे साथ रहोगे।"

तीसरे दिन मेरी आँखें ठीक हो गयीं। और मैं खाना खाने डाइनिंग हाल में गया। नबी ने तो कहा था कि वह खाना वहीं ला देगा, पर मैं स्नानगृह में लेटा-लेटा इतना ऊब गया था कि मैंने लंगर में जाकर खाना खाने का फ़ैसला किया। तीसरी पारी में, उसी चिर-परिचित अन्तिम मेज़ पर जा बैठा। लू चलने लगी थी, हाल के सब दरवाज़े बन्द थे, केवल दो खिड़कियाँ खुली थीं तो भी हाल में काफ़ी रोशनी थी। सीमेंट के चमचमाते नगीनों-जड़े फ़र्श पर धूल की एक हलकी-सी परत जमी हुई थी, जिसपर आने-जाने वालों के पाँवों के निशान बन-बन जाते थे। किचन का छोकरा पैंटरी को गीले कपड़े से बार-बार पोंछकर चमका देता था, इसलिए हाल के फ़र्श के मुकाबले में वह बड़ी निखरी-निखरी लग रही थी।

गर्मी के कारण बहुत-से देवसैनिक खाना नौकरों के हाथ अपनी कोठियों में ही मँगा लेते थे, तीसरी पारी में केवल तीन-चार व्यक्ति ही खाने को आये थे। मैं अपने ध्यान में मग्न नबी के बारे में सोचता खाना खा रहा था कि अचानक छोटे-छोटे लड़कों की एक फ़ौज हाल में घुस आयी। देखकर भी जैसे मैंने उन्हें नहीं देखा।

चुप-चाप खाना खाता रहा और सोचता रहा—आँखें जब ठीक हो गयी हैं तो नबी का सवाल फिर उठेगा, माता जी जब उसको निकालने पर तुल गयी हैं तो उसे रखना देवनगर से बैर मोल लेना है, नबी का तो बहाना है, मतलब तो मुझे तंग करने से है। तीरथराम या हरमोहन ने चोरी की इस घटना के सम्बन्ध में माता जी के कान भरे होंगे, वे तो पहले ही खार खाये बैठी हैं, उन्होंने उसे निकालने का नादिरशाही हुक्म दे दिया होगा, जितने दिन नबी मेरे यहाँ रहेगा, वे सीख का कबाब बनी रहेंगी। लेकिन चाहे जो हो, चाहे मुझे देवनगर छोड़ना पड़े, मैं नबी को कभी न निकालूँगा......

तभी कुछ लड़कों ने आकर मेरी मेज को घेर लिया।

"चन्दा दीजिए संगीत जी, परसों हमारी कंसर्ट होने वाली है। उसमें हम एक नाटक करेंगे।"

"मैं चन्दा-वन्दा कभी नहीं देता।" नबी की समस्या में उलझे और बिना उनकी ओर देखे, बिना उनकी पूरी बात सुने मैंने कहा।

लड़कों ने मुड़कर निराशाभरी आँखों से पीछे को देखा! निरपेक्ष भाव से मेरी निगाहें भी उनके साथ उठीं। परे दरवाजे में वाणी खड़ी थी।

लड़कों ने हाथ के इशारे से बताया कि कुछ नहीं देते।

वाणी हाल के मध्य आ गयी और मेरी आँख बचाते हुए उसने हाथ के संकेत से कहा कि इनसे फिर कहो!

हालाँकि वाणी अपनी आँख बचा गयी थी, फिर भी जिस आत्मीयता के साथ उसने लड़कों को मुझसे अनुरोध करने के लिए कहा था, उसने मेरे हृदय की गति को तेज़ कर दिया।

मैंने बच्चों से कहा, "मेरे पास इस समय कुछ नहीं। शाम को मेरी कोठी पर आओगे तब मैं दे दूंगा।"

एक लड़का बोला, "कितने देंगे?"

मैंने किंचित मुस्कराकर कहा, "एक!"

"आप बड़े कंजूस हैं।"

अभी मुश्किल से लड़के के मुंह से शब्द निकले होंगे कि बढ़कर वाणी ने हलकी-सी चपत उसके मुंह पर लगा दी। "ऐसा नहीं बोलते," उसने दांतों में कहा और तब उसकी निगाहें मुझसे मिलीं, जैसे कह रही हों—लड़कों की उद्दण्डता के लिए मुझे क्षमा कर दीजिए!

एक दूसरे लड़के ने कहा—"हम पाँच रुपये लेंगे!"

"चलो, चलो!" कहते हुए वाणी उन्हें ले चली। मैंने उसी लड़के से कहा, "शाम को आना, जो भी हो सकेगा दूंगा।"

मेरा खयाल था कि वाणी मुड़कर देखेगी। उसके मुड़ने की आशा ही से मेरा दिल धड़क रहा था, पर सामने किचन के दरवाज़े पर तीरथराम नमूदार हुआ और वाणी बिना मुड़े, लड़कों के पीछे-पीछे चली गयी।

सांझ के साये गहरे हो गये थे। दिनभर लू चलती रही थी, लेकिन दिन ढलते ही हवा थम गयी थी। तपिश जो दिन भर हवा के पंखों पर उड़ रही थी जैसे अदृश्य घटा-सी सारे वातावरण पर छा गयी थी। लैम्प उठाकर मैं बाहर बरामदे में आया। अभी चिमनी साफ़ ही कर रहा था कि गहरे दुःख में मधुर स्मृति-सा हवा का एक हलका झोंका आया। पसीने से तर बदन में हलकी सी फुरेरी दौड़

गयी। वत्ता काटकर, चिमनी ठीक से रख, मैं लैम्प उठाकर अन्दर चला ही था कि मैंने सामने के मोड़ पर लड़कों का झुण्ड देखा। वाणी उनके साथ थी। दिल ज़ोर से धड़क उठा। लेकिन शायद यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि धड़क तो वह उसी वक्त से रहा था, जब मैं लंच के वाद लौटा था और मैंने वाणी की आँखों में पुराना-सा कुछ फिर से देखा था और मुझे लगा था कि वह शाम को जरूर आयगी।

मैं रुका नहीं। ड्राइंग रूम में गया। मेज पर लैम्प रखा, फिर दियासलाई लेने के लिए मैं छोटे कमरे में गया। पहले मैं छोटे कमरे ही से लैम्प जलाकर ड्राइंगरूम में रखता था, पर व्यस्त दिखायी देने के प्रयास में वह क्रम मैं भूल गया। फिर मन की गति विचित्र है। वह परेशानी में भी कई बार बड़ी तेज़ी से योजनाएँ बना लेता है। दियासलाई की डिबिया शायद इसीलिए मैं छोड़ गया था कि उसे लेने फिर आऊँ और जान सकूँ कि वे लड़के मेरी ओर ही आ रहे हैं या कहीं घूमने जा रहे हैं। मेरा खयाल ठीक था। बच्चे इधर ही आ रहे थे। दियासलाई लेकर विना उधर देखे मैं वापस आया। लैम्प जला रहा था, जब बच्चे दनदनाते अन्दर आ गये। मैं चुपचाप लैम्प जलाता रहा। एक-दो तीलियाँ बुझीं भी, पर लैम्प जलाकर ही मैंने पीठ फेरी। जान-बूझकर वाणी सबसे पीछे बरामदे में ही रुक गयी थी। जान-बूझकर वह साँझ ढलने के वाद आयी थी। निमिष भर हम एक-दूसरे की ओर देखते रहे, फिर मैं डिबिया वहीं छोटे कमरे में रखने के बहाने चल दिया। दरवाज़े में रुककर मैंने कहा—"तुम क्यों आयी हो? मैंने कह दिया था, रुपये मैं पहुँचा देता।"

वाणी का रंग एकदम श्वेत हो गया। वह कोई जवाब न दे सकी। केवल अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मुटर-मुटर मुझे तकती रही। मैं

कन्नी काटकर छोटे कमरे में गया। यद्यपि उस बच्चे ने पाँच रुपये माँगे थे, पर मैंने पाँच के साथ दो के नोट और मिलाये और वापस आकर वाणी के नहीं, उसी लड़के के हाथ पर रख दिये।

"इनको थैंक्स कहो बलवन्त!" वाणी ने सहसा कहा और लड़का बोला, "थैंक यू!"

बच्चे जैसे आये थे वैसे ही दनदनाते चल दिये।

उनके पीछे क्षणभर रुककर सहसा वाणी ने पूछा, "आप नबी को निकाल रहे हैं?"

"तुमसे किसने कहा?"

"माता जी हरमोहन भरा जी से कह रही थीं। नबी कल बड़ा उदास था।"

"नहीं, मैं उसे नहीं निकाल रहा।"

"हाँ, उसे न निकालिएगा!" और अपनी उन्हीं बड़ी-बड़ी गहरी आँखों में निमिष भर को मुझे डुबाते हुए वह भाग गयी।

वाणी चली गयी, बरामदे में रुका मैं उसे देखता रहा। मोड़ पर पहुँचकर उसने फिर एकबार मुड़कर देखा। इतनी दूर से आँखें तो नहीं दिखायी दीं, पर लगा कि जैसे उस दृष्टि ने, दिखायी न देकर भी, मुझे छू लिया है और उसके स्पर्श ने मन की सारी उदासी और सूनापन हर लिया है।

दिन में गर्मी के कारण काम कुछ ज़्यादा न कर सका था। खयाल था कि साँझ पड़े कुछ ठंडक होने पर कोशिश करूँगा। लेकिन लैम्प के पास ज़रा भी बैठने को मन नहीं हुआ। लंगर में खाना खाने के बाद, बहुत देर तक वहीं कोठी के बाहर सड़क पर घूमता रहा, फि

अन्दर से चारपाई निकाल, बाहर बिछाकर लेट गया। अँधेरा चारों ओर से बढ़ आया था, लेकिन आकाश में बेगिनती तारे टिमटिमा रहे थे और बायीं ओर आम और जामुन के पीछे उदय होने वाले कृष्ण पक्ष के चाँद की ज्योति नमित रहकर भी ऊर्ध्वंगा वाणी की दृष्टि-सरीखी पेड़ों के ऊपर से आकाश में उजाला भर रही थी।

साँझ को वाणी से की गयीं वे ही दो बातें बीसियों बार कानों में गूंज गयीं। उसकी वे पहले डरी-डरी फिर प्रसन्न और फिर प्रशंसा-भरी निगाहें बार-बार हृदय के तारों को छूती रहीं। सोचता रहा—बार-बार वही एक बात—कि वाणी की प्रत्यक्ष उपेक्षा को उसकी सच्ची उपेक्षा समझने में मैंने कितनी भूल की? यदि वह सचमुच मुझसे नफ़रत करने लगती तो क्या उसका यों प्रदर्शन करती? क्या वह मुझे देखकर मुंह फेर लेने अथवा वहीं खड़े-खड़े अपनी उन निगाहों की एक हलकी सी जुंबिश से, माथे के हलके से तेवर से मेरे प्रति घृणा न प्रकट कर सकती थी? सामने किसी को देखते हुए भी न देखना, दूसरे को इस बात का अहसास दिला देना कि वह एकदम हेय है, इन आँखों का एक अदना करिश्मा है। इसके लिए इतने क़दम चलकर सिर या पीठ फेरने की क्या ज़रूरत थी? और वाणी के उस व्यवहार पर, जिससे मन कटुता से भर गया था, सहसा प्यार हो आया। मेरे उस कृत्य पर उसे कितना क्रोध न आया होगा। वह मुझसे नफ़रत करती तो बेजा न होता। पर नहीं, वह नफ़रत न करती थी। उसके मन में मेरे लिए स्नेह था, इसीलिए वह जता देती थी कि मेरी बात से उसे दुःख पहुँचा है और वह मुझ से गुस्से है।

....'मैं नबी को नहीं निकालूंगा'.... 'मैं नबी को हरग़िज़ नहीं निकालूंगा'....मैं मन-ही-मन प्रण कर रहा था...'मैं उसे और

भी अच्छी तरह पढ़ाऊँगा। उसे योग्य बनाकर देवनगरियों को दिखा दूंगा कि उनकी धारणा ग़लत थी। देवा जी को बता दूंगा कि जिन लेखों को लिखकर वे अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, मैं उन्हीं पर अमल करना, उन्हें लिखने से जरूरी समझता हूँ। वाणी को जता दूंगा कि यदि उसने मुझपर विश्वास किया है तो मैं उस विश्वास के सर्वथा योग्य हूँ.......'

तभी खयाल आया कि वाणी से मैंने कुछ रूखा व्यवहार किया है। जाने क्यों मन की तमाम शक्तियों से चाहने पर भी मुंह से यही रूखे-सूखे बोल निकले थे। अब मन मसोसने लगा कि वाणी आयी और उससे ढब की दो बातें भी न कर सका.....न जाने मैं कब तक इसी तरह सोचता रहता, लेकिन कृष्ण पक्ष का चौथाई चाँद झाँकने लगा, हवा रमकने लगी पलक भारी हो गये और मैं सो गया।

सुबह नबी आया तो मैंने उससे पूछा, "क्या तुमने वाणी से कुछ कहा था ?"

मेरे अकस्मात यह प्रश्न करने पर वह एकदम सहम गया और चुप बना रहा।

मैंने प्रश्न बदला।

"क्या तुम वाणी से मिलते हो ?"

वह फिर भी चुप रहा और मुटर-मुटर मेरी ओर तकता रहा।

मैंने दूसरी तरह प्रश्न किया।

"क्या वाणी तुमसे मिलती है ?"

"जी !"

"क्या कहती है ?"

"जी, कुछ नहीं, पढ़ने-लिखने के वारे में पूछा करती हैं।"

"देखो, तुम नौकरी छोड़ना नहीं चाहते तो मन लगाकर पढ़ो और अच्छे लड़के वनो और देवनगरियों को, जो तुम्हें चोर समझते हैं, दिखा दो कि तुम कितने अच्छे हो।"

नबी ने स्वीकृति में सिर हिलाया कि हाँ, वह ऐसा ही करेगा। मैंने वड़े जोश से उसे और हीरा को उस दिन पढ़ाया और जव देवा जी से लेख लेने गया तो एक नयी उत्फुल्लता मेरी नस-नस में दौड़ रही थी।

देवा जी ने मुझे लेख दे दिया और जब मैं चलने लगा तो उन्होंने कहा, "भई, वह हरमोहन ने तुम्हारे लिए नौकर छोकरे का प्रवन्ध कर दिया है।"

"जी, नौकर छोकरे का ?"

"वह, नवी को तुमने जवाब दे दिया न ?"

"जी नहीं !"

उन्होंने संकेत किया कि ज़रा वैठो।

जब मैं वैठ गया तो उन्होंने कहा, "देखो भाई, मैं समझता हूँ कि तुम्हें यह वात बुरी लगती है, सच पूछो तो मैं स्वयं इसे अच्छा नहीं समझता, लेकिन वड़ी बुराई के मुक़ावले में इस छोटी बुराई को चुन लेना वेहतर है।"

चुप रहना मेरे लिए मुश्किल हो गया। मैंने कहा, "यह छोटी बुराई है, यह कैसे मान लिया जाय ?"

देवा जी के माथे पर तेवर वन गये, पर दूसरे क्षण एक चौड़ी मुस्कान का हंगा उनपर फेरते हुए उन्होंने कहा, "यह वात भाई

रिलेटिव—सापेक्ष है। तुम्हारे लिए यह बड़ी बुराई हो सकती है, क्योंकि इसके मुकावले में बड़ी बुराई तुम्हें दिखायी नहीं देती, पर मेरे सामने अपने साथियों के क्रोध और असहयोग के रूप में वह दिखायी देती है। देवसैनिकों का बहुमत चाहता है कि उस लड़के को देवनगर में न रहने दिया जाय। अब यदि मैं ज़ोर देता हूँ तो वे सबके-सब यह समझेंगे कि मैं उनकी एक ज़रा-सी इच्छा भी पूरी नहीं करता। वे कहेंगे कुछ नहीं, पर उनका काम करने का, सहयोग देने का उत्साह जाता रहेगा और उनके सहयोग के विना मेरे लिए देवनगर का सपना सिर्फ़ सपना बनकर रह जायगा।"

मैं चिढ़ गया, बोला, "देवनगर आप क्यों बनाना चाहते हैं? क्या ईंटें, गारा और चूना ही देवनगर है? उसकी नींव और निर्माण में क्या कोई सिद्धान्त नहीं। उन सिद्धान्तों का वलिदान करके ईंटें, गारे और चूने के चन्द मकान खड़े कर लेना आप बड़ी सफलता समझते होंगे, मैं इसे घोर असफलता मानता हूँ। यह बड़ी चीज़ के लिए छोटी चीज़ की कुरबानी नहीं, बल्कि एक बड़ी ही छोटी चीज़ के लिए एक बहुत ही बड़ी चीज़ की क़ुरबानी है।"

देवा जी के माथे पर चिढचिढाहट की इतनी बड़ी लकीरें बन गयीं कि मुस्कान और संयम का हेंगा भी उन्हें न मिटा सका। किसी तरह अपने आप पर क़ाबू रखते हुए उन्होंने कहा, "मैं तो भाई तुम्हारे ही लिए कहता हूँ। सब लोंगो को नाराज़ करके, सब की छाती पर मूंग दलते हुए, सब की मरज़ी के खिलाफ़ उस चोर छोकरे को रख कर......."

"वह चोर नहीं," मैंने देवा जी की बात काटते हुए क्रोध और जोश से कहा, "और फिर यह आप भी जानते हैं और मैं भी जानता

हूँ कि गहना-पत्ता या नक़द रुपया यहाँ कोई नहीं रखता और जितना लोग रखते हैं उतना अगर किसी का चला जाय तो मैं भर दूंगा, आप मेरे वेतन से काट लीजिएगा।"

देवा जी चुप रहे, केवल मौनरूप से मेरी ओर देखते रहे।

"नबी मेरा रिश्तेदार नहीं," मैंने उसी जोश से कहा, "लेकिन मैं उसे वचन दे चुका हूँ कि मैं उसे नहीं निकालूंगा। उसकी बुढ़िया माँ है, नबी जो कमाता है उसी से उनका गुजारा चलता है। उसे निकाल दूंगा तो दोनों भूखों मर जायँगे।"

देवा जी हँसे—"तुम बड़े भोले हो, भाई। नबी ही अकेला यहाँ भूखा नहीं, आसपास के गांवों में ऐसे बीसियों बच्चे और उनके माँ-बाप भूख के शिकार हो रहे हैं। देवनगर द्वारा हम उसी भूख की बीमारी का इलाज करने की सोच रहे हैं। देवनगर बन गया तो यहाँ बीसियों उद्योग-धंधे खुलेंगे और यहाँ की भूख-गरीबी मिटेगी।"

मैं तत्काल कोई उत्तर न दे सका। क्षण भर रुककर मैंने कहा, "बात भूख ही की नहीं, आपने देववाणी में लगातार बच्चों के मनोविज्ञान पर लिखा है कि बच्चे क्यों चोरी करते हैं, नौकर क्यों चोरी करते हैं और कैसे उनकी बुरी आदतें हटायी जा सकती हैं। मैं आप ही के कहे पर अमल कर के देखना चाहता हूँ। मेरे विचार से नबी चोर नहीं। मैं एक कोशिश और कर देखना चाहता हूँ। यदि उसमें मुझे कुछ हानि भी उठानी पड़ी तो मैं तैयार हूँ।"

देवा जी ने कुछ नहीं कहा, "तुम्हारी इच्छा!" वे विवश भाव से बोले, "मैंने तुम्हारे ही लाभ के लिए कहा था, अपने साथियों को नाराज करके तुम शान्ति नहीं पा सकते।"

और माथे पर जैसे चिन्तन की कई लकीरें खींच, वे अपने काम में रत हो गये।

आकर लेखों का अनुवाद करना मेरे लिए कठिन हो गया। हो सकता है समझौता ज़िन्दगी की शर्त हो, लेकिन आदमी के पास कुछ तो ऐसा हो, जहाँ वह किसी से समझौता न करे! घास अपनी कोमलता को तूफ़ान के नीचे बिछा देती है और उसके गुज़र जाने के बाद फिर उठ खड़ी होती है, ज़िन्दा रहती है। लेकिन बरगद झुकता नहीं चाहे टूट जाता है। तो क्या घास बरगद से अच्छी है? थके हारे मुसाफ़िरों को जब कोई छाया देना और आराम पहुँचाना चाहेगा, किसी अपने प्रिय सिद्धान्त पर आरूढ़ रहना चाहेगा, तब उसे बरगद ही बनना पड़ेगा, भले ही तूफ़ान के मुकाबले में उसे उखड़कर गिर जाना पड़े। नहीं, मसलहतों* के पाँव उसकी सूरत बिगाड़ देंगे। ज़िन्दा वह रहेगा, लेकिन वह ज़िन्दगी मौत ही का दूसरा नाम होगी।

समझौता करते हुए देवा जी अपने आदर्श की ऊँचाई से जहाँ आ पहुँचे थे, उसे देखकर मुझे घोर ग्लानि हुई। कहाँ देववाणी के वे आदर्श, वह न्याय-प्रिय बालक की कहानी, वह अपने अधिकार के लिए लड़ मरने वाले क्लर्क का किस्सा और कहाँ हर सिद्धान्त को सुविधा के लिए छोड़ देना! मैं झुँझलाकर उठ बैठा। लगा कि इस आज़ाद, स्वच्छन्द फ़िज़ा में मेरा दम घुट रहा है। टहलता-टहलता मैं मधवार साहब की ओर गया। वे अभी प्रैक्टिकल स्कूल ही में थे। मैं स्कूल की ओर चल पड़ा।

---

* संकट काल की आवश्यकताओं

बरामदे में वाणी एक विंग से दूसरे की ओर जाती दिखायी दी। जाते-जाते निमिष भर को रुककर,उसने मेरी ओर गहरी प्यार-भरी दृष्टि से देखा—उसका सारा आक्रोश मिट चुका था, मुझे न सफ़ाई देने की ज़रूरत पड़ी, न क्षमा माँगने की। शायद नवी के मामले में मेरे हठ की बात उस तक पहुँच गयी थी और उसी ने मेरी खोयी जगह उसकी आँखों में पुनः बना दी थी। फिर जैसे उसकी शलवार का पाइँचा उसके टखने में फँस गया, वह उसे अलग करने झुकी। वहीं से झुके-झुके मुड़कर उसने फिर अपनी उन निगाहों से मुझे शराबोर कर दिया। और फिर पाइँचे को टखनों से अलग करती हुई, वह दूसरी ओर मुड़ गयी और जैसे अपने सिद्धान्त पर अडिग रहने के मेरे निश्चय को और भी दृढ़ बनाती गयी।

मखवार साहब किसी महान तपस्वी की तरह सीधे अपनी कुर्सी पर बैठे फ़ाइलें देखने में निरत थे। मेरे क़दमों की चाप से उनकी समाधि भंग हुई। किसी दूसरे संसार में जैसे वे मुस्कराये और आँखों की हलकी सी जुम्बिश से उन्होंने पूछा कि कहिए कैसे आये और आँखों से ही संकेत किया कि बैठिए।

मैं कुर्सी पर बैठ गया और मैंने नवी की बात चलायी। माताजी, हरमोहन और देवा जी के आदेश का उल्लेख किया और अपनी स्थिति और भावनाओं को उनके सामने रखते हुए कहा, "यह एक मामूली नौकर को हटाने का प्रश्न नहीं, यह अपने वचन और सिद्धान्त को तोड़ने का, आदर्शच्युत होने का प्रश्न है। मैं नवी को कैसे निकाल सकता हूँ?"

"यदि आप देवनगर में रहना चाहते हैं तो उसे निकालना होगा!" उन्होंने जैसे किसी धर्म-ग्रन्थ का सूत्र प्रकाशित किया।

"जब मैं हरजाना देने को तैयार हूँ, किसी की चोरी हो जाय, उसे भरने को तैयार हूँ, तो फिर आप लोगों को क्या शिकायत है?"

मघवार साहब का तनाव कुछ हलका हुआ। शरीर को ज़रा ढीला छोड़ते हुए उन्होंने कहा, "मुझे तो भाई, कोई शिकायत नहीं, मैं तो बल्कि विश्वास रखता हूँ कि वह बच्चा न केवल चोरी की आदत छोड़ सकता है, बल्कि प्रैक्टिकल स्कूल के अधिकांश बच्चों के मुक़ाबले में योग्य और बुद्धिमान साबित हो सकता है। लेकिन उसके लिए स्नेह और समदृष्टि की ज़रूरत है, जो यहाँ सम्भव नहीं। मैं उसे कभी प्रैक्टिकल स्कूल से निकालने न देता, पर जिस लड़के पर माता जी की कुदृष्टि हो और वह किसी धनाधीश का बच्चा न हो तो उसे यहाँ रखना उसकी आत्मा को कुचल देने के बराबर है, इसीलिए मैंने दोनों बच्चों को यहाँ से चले जाने दिया।"

और मघवार साहब ने बताया कि किस प्रकार प्रैक्टिकल स्कूल के खाने और दिखाने के दाँत अलग-अलग हैं। "देवा जी ने 'देववाणी' में बड़े तमतराक से घोषणा की है," मघवार साहब बोले, "कि स्कूल में बच्चों को हर तरह की आज़ादी है, उनका व्यक्तित्व पूरी स्वच्छन्दता के वातावरण में बन रहा है, पर तथ्य यह है कि वे घर को जो चिट्ठियाँ लिखते हैं, वे सब खोल ली जाती हैं और जिन चिट्ठियों में स्कूल की आलोचना होती है, वे कभी नहीं भेजी जातीं। जिस लड़के के असन्तोष का पता चल जाता है, उस पर खास ध्यान दिया जाता है और हर कोशिश से उससे स्कूल के पक्ष में चिट्ठी लिखवाई जाती है।"

"आपके रहते यह सब होता है?"

"मैं न रहूँ तो न जाने और क्या-क्या हो ? प्रिन्सिपल पूरा खुशामदी है, ऐसे-वैसे जितने काम हैं, देवा जी सब उसी से कराते हैं।"

"मेरा तो दम घुट जाय धोखा-धड़ी के ऐसे वातावरण में, आप कैसे रहते हैं ?"

"मैं गाँधी-आश्रम में रह आया हूँ, कीचड़ में रहकर भी कमल वने रहना मैं अच्छी तरह जानता हूँ। महात्मा गांधी ने बड़े-बड़े शठों से देवता-तुल्य काम कराये। जव तक मुझे उम्मीद है कि बुराई को वढ़ने से रोक रहा हूं, तब तक हूँ, जव देखूंगा मेरा कोई उपयोग नहीं, चल दूंगा।"

और उन्होंने विल्कुल देवा जी की तरह कलम उठाया और अकड़कर वैठ गये।

'देवा जी ने मंत्री वनाकर इस व्यक्ति के अहं को सन्तुष्ट कर दिया है और यह समझौतों के लिए अपने-आपको धोखा देने लगा है,' मैंने दिल-ही-दिल में कहा और 'नमस्कार' कर मैं मधवार साहब के पास से उठ आया।

नन्दलाल से मिलने के लिए जाने का मन था, पर नहीं गया। न जाने कैसी वितृष्णा हो गयी कि देवनगरियों की सूरत तक से चिढ़ होने लगी। किसी से भी मिलने को मन न होता था। दोपहर को खाना खाने भी नहीं गया, नवी के हाथ मँगा लिया। भूख भी कोई ऐसी खास न थी। दो-चार कौर खाकर उठ गया। कुल्ला कर हाथ-मुंह धो रहा था कि वाहर टिक-टिक हुई। नवी ने दरवाज़ा खोला। ज्ञानी जी थे।

"अरे, आप इस टीक दोपहरी में कहाँ?" स्नानगृह से वाहर निकलते हुए मैंने कहा।

'आप आज खाने के लिए नहीं आये। नवी को खाना ले जाते देखकर सोचा कि फिर दुश्मनों की आँखें न आ गयी हों।" और अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए वह किंचित हँसे।

मैंने उनकी हँसी में योग नहीं दिया। "दुश्मनों की आँखें तो खराव नहीं हैं, पर मिज़ाज ज़रूर गर्म है!" मैंने उत्तर दिया।

मेरी वाँह को स्कंध-मूल से उखाड़ते हुए ज्ञानी जी ने अपना वही गाँठदार ठहाका लगाया। "आप भी खूब हैं, संगीत भाई!" और वे मुझे साथ ही लेकर चटाई पर बैठ गये। "दुश्मनों का मिज़ाज क्यों गर्म है?" उन्होंने पूछा।

मैंने नवी को दूसरे कमरे में जाकर हीरा के साथ पढ़ने के लिए कहा, ज्ञानी जी को नवी का किस्सा और देवा जी का आदेश सुनाया और अपनी स्थिति समझायी।

"तुम बिल्कुल ठीक कहते हो भाई," ज्ञानी जी ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "पर तुम्हारा यह खयाल ग़लत है कि देवा-जी ऐसा चाहते हैं। देवा जी तो देवता पुरुष हैं। उनका हृदय वड़ा उदार है, यह तो उनके इर्द-गिर्द कुछ छोटे दिल के लोग हैं, उन्हींके कारण देवा जी यह सब करने को विवश हैं।" और निमिष भर रुक कर उन्होंने कहा, "मैं तुम्हें सलाह दूंगा कि तुम नवी को अभी निकाल दो, मैं उसे फिर नौकर करा दूंगा, इसका मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ।"

"उसे तो मैं हरगिज़ जवाव नहीं दे सकता।"

"मैं तुम्हारे ही फ़ायदे के लिए कहता हूँ। जव माता जी उसके विरुद्ध हैं तो उसे रखना वुद्धिमानी नहीं। तुम रखोगे तो ये तुम्हें तंग

करेंगे। हरमोहन कह रहा था कि 'देववाणी' के हिन्दी-उर्दू संस्करण बड़ा घाटा दे रहे हैं। तुम अपनी ज़िद पर क़ायम रहे तो वे उन्हें बन्द कर देंगे और तुम्हें देवनगर छोड़ना पड़ेगा।"

"देवनगर चाहे मुझे छोड़ना पड़े, पर मैं नबी को जवाब नहीं दे सकता!" मैंने कहा।

"देखो भाई, कोई ऐसा काम न करना चाहिए जिससे विरोधियों के हाथ मजबूत हों। Stoop to Conquer मुहावरा सुना है या नहीं? कभी-कभी जीतने के लिए झुक जाना चाहिए।"

"यह देवा जी की फ़िलासफ़ी है," मैंने कहा, "मेरी नहीं! मैंने अपनी प्रेरणा उनकी करनी से नहीं ली—प्रायः हर अवसरवादी की करनी वैसी ही होती है— मुझे प्रेरणा उनकी कथनी से मिली है, जिसने मेरी सोयी हुई रूह को जगा दिया है, मुझे अन्तर की आँखें और उन आँखों को सपने दिये हैं?"

ज्ञानी जी निराश हो गये। लेकिन गये नहीं। बड़ी देर तक बैठे मुझे दुनियादारी की बातें समझाते रहे और देवा जी की सफ़ाई देते रहे। मैंने कहा, "देवा जी का कोई दोष नहीं है, यह मैं नहीं मानता। वे भविष्यद्रष्टा हो सकते हैं, शायद हैं भी, पर अपनी कथनी को करनी का जामा पहनाने के लिए जिस दृढ़ता की जरूरत है वह उनमें नहीं। वे एक ढुल-मुल नेता हैं। मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि वे अब क्यों देवसैनिक नहीं बनाते? मैं यदि देवसैनिक होता तो वे या उनके साथी काम को बन्द करके मुझे निकालने की कभी न सोच पाते। तन और मन की निपट गुलामी उनके साथ काम करने की पहली शर्त है। मुझे किसी के नेतृत्व में तन और मन को गुलाम बना देना अस्वीकार नहीं, पर शर्त यही है कि मेरा नेता अपने आदर्शों

से गिरता तो नहीं। आदर्शहीन नेता की गुलामी मेरे वस की नहीं। मैं नवी को निकालूंगा तो मुझे लगेगा कि मैं एक आदर्श-हीन नेता की गुलामी कर रहा हूँ......कि उस गुलामी में मुझे रोटी मिलती है......कि मैं ऐसा केवल पेट के लिए कर रहा हूँ। 'देववाणी' को पढ़ने के वाद, मैं ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि देवा जी के ही कथनानुसार पेट तो कौवे और गदहे भी भरते हैं और सुख-सुविधा तो वेश्याओं को भी प्राप्त होती है।"

शाम हुए ज्ञानी जी गये, उनके जाते ही मैंने नवी को वुलाया। हीरा जा चुका था। "देखो भाई, ये सारे लोग इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि मैं तुम्हें निकाल दूं," मैंने वड़े प्यार से उसे समझाया, "पर मैंने वचन दिया था इसलिए मैंने तुम्हें निकलाना मंज़ूर नहीं किया। मैं तुम्हें निकालूंगा नहीं, लेकिन मैंने तय कर लिया है कि मैं स्वयं निकल जाऊँगा। कल सुवह मैं यहाँ से चला जाऊँगा? तुम कल से न आना।"

और मैंने जेव से पाँच रुपये निकाल कर उसे दिये और उसे वग़ल में लेकर प्यार करते हुए कहा, "अपनी अम्मा को मेरा सलाम देना और सारी बात समझा देना।"

नवी की आँखें भर आयीं। लगभग रोते हुए उसने कहा, "दार जी, आप मुझे साथ ही ले चलिए।"

"अभी तो कुछ पता नहीं, कहाँ-कहाँ भटकता रहूँ," मैंने कहा, "पर यदि कहीं टिक गया तो लिखूंगा, चले आना।"

और मैंने उसकी पीठ थपथपाकर उसे तसल्ली दी और प्यार किया।

नवी ने अपना बस्ता, किताबें और कापियाँ सम्हालीं, दूसरा छोटा-मोटा सामान लिया और मेरे पाँव छूकर वह चल दिया।

"ठहरो, गुम्बद तक मैं भी चलता हूँ!" मैंने कहा, और कोठी में ताला लगा कर मैं भी उसके साथ हो लिया। चाहता था कि किसी को मेरे जाने की बात मालूम न हो। जब वे अपने क्रोध में मुझे नोटिस देने की सोचें तो पायें कि मैं जा चुका हूँ। नवी से कोई ऊल-जलूल सवाल न पूछे, इसलिए मैंने उनके साथ जाना उचित समझा।

साँझ अभी पूरी तरह उतरी न थी, लेकिन हवा में गर्मी कम थी। देवनगर छोड़ने के खयाल से वे रविशें, वे बाड़ें, वह हाल, वह ड्योढ़ी, वे कोठियाँ, वे आम, जामुन और बरगद के पेड़, वे बनौली के घरों की लकीर—सब एक दम नया-नया लगा। जी हुआ कि देवनगर छोड़ने से पहले एक बार अच्छी तरह घूमकर देख लूं, उसकी हर रेखा को मन के पट पर उतार लूं।

नवी को मैंने कोठियों के आगे छोड़ दिया। परे मैदान में स्कूल के बच्चे हॉकी खेल रहे थे। और भी परे शायद वाणी अपनी किसी सहेली के साथ घूम रही थी। कुछ क्षण वहीं खड़ा मैं नवी को चुपचाप सिर झुकाये जाते देखता रहा, फिर मेरी दृष्टि मैदान से परे किसी सहेली के साथ टहलती हुई वाणी पर गयी और दिल की गहराई से एक लम्बी साँस निकल गयी।

देवनगर के वीराने में यदि किसी चीज़ ने मुझे बाँध रखा था—उसकी सुन्दरता के अतिरिक्त—तो वह था वाणी का स्नेह, नहीं तो

मेरा सपना कब का टूट चुका था। लेकिन अब देवनगर में और रहने और वाणी का स्नेह पाने के लिए जो क़ीमत चुकानी पड़ती, वह उस स्नेह ही को खत्म कर देती। वाणी के उस स्नेह का तगादा था कि मैं अपने फ़ैसले पर अडिग रहूँ और तत्काल देवगनर छोड़ दूं।

मैं चुपचाप सड़क पर हो लिया। खयाल आया कि जाऊँ, ज़रा नहर का एक चक्कर लगा आऊँ।

सड़क एक नम्बर की कोठी के पास नहर की ओर मुड़ती थी। उधर मुड़ने से पहले मैंने एक बार फिर मैदान की ओर निगाह दौड़ायी, सहसा मैं ठिठक गया। वाणी ने नबी को जाते-जाते रोक लिया था और वह उससे बातें कर रही थी। नबी को मैंने और किसी से मिलने न दिया था। और किसी से उसने मेरे जाने की बात न बतायी थी, 'पर वाणी से वह ज़रूर कह देगा!' और यह सोचते ही मेरा दिल धड़क उठा। मैं मुड़ा, नहर की ओर जाने के बदले पत्थरचट्टी गया। वहाँ एक इक्का तय कर आया, उसे साथ लाकर अपनी कोठी बता दी कि सुबह साढ़े पाँच बजे वहाँ आ जाय! समझा दिया कि कोठियों के आगे से होकर, ड्योढ़ी की ओर से आने के बदले कोठियों के पीछे से आये। मैं न चाहता था कि कोठियों के आगे सोये हुए देवसैनिक इक्के की खड़खड़ाहट से उठ खड़े हों, मुझे फिर देवा जी का सामना करना पड़े और उनसे औपचारिक बातें कहनी-सुननी पड़ें।

इक्केवाले ने आश्वासन दिया कि वह पाँच बजे ही आ जायगा।

"बस मैं मुँह अँधेरे निकल जाना चाहता हूँ," मैंने उसे एक बार फिर ताकीद की।

इक्केवाला चला गया और मैं अपना सामान समेटने में तल्लीन हो गया।

सुबह जब इक्का गुम्बद के पास से होकर डाकखाने के निकट पहुँच गया तो मैंने सुख की साँस ली। अब किसी देवसैनिक से मिलने की आशा न थी। जब मैं इक्के पर सामान लाद रहा था, गुम्बद के पास बच्चों का झुण्ड देखकर मेरा माथा ठनका था, डरा कि प्रातः के इस धुंधलके में कहीं वाणी बच्चों को लेकर इधर ही तो नहीं आ रही। पर दो-दो की क़तार बाँधकर 'लेफ्ट-राइट' करते हुए वे भट्टे की ओर चले गये। उधर ऊसर में से एक पगडण्डी नहर को जाती थी। बच्चे शायद, उधर ही से नहर को जा रहे थे। शायद पूरा चक्कर लगाकर एक नम्बर की कोठी के पास आ निकलेंगे, मैंने मन-ही-मन सोचा और मेरी जान में जान आयी।

इक्का पत्थरचट्टी की ओर बढ़ा तो ठंडी हवा के एक झोंके ने मन का सारा संताप हर लिया। लगा जैसे मुद्दतों के बाद जेल से छूटकर आज़ाद फ़िज़ा में आया हूँ। सड़क के दोनों ओर कटे हुए खेत थे, जिनमें खलिहान बने हुए थे। किसान तड़के ही अपने काम पर आ जुटे थे। कहीं सूपों की मदद से भूसा अलग किया जा रहा था, कहीं बैलों के खुरों तले दाने अपना जामा उतार रहे थे, कहीं गोल-गोल 'कुप्प' बन रहे थे। छल-कपट, धोखा-धड़ी से आज़ाद सीधी-साधी ज़िन्दगी रवां-दवां थी। मैंने सीना फुलाकर लम्बे-लम्बे साँस लिये और सुबह की उस स्वच्छ वायु को अपने सीने में भर लिया।

अपने कमरे की मेज़ पर मैं देवा ज़ी की किताबों और लेखों के साथ एक चिट्ठी भी उनके नाम छोड़ आया था।

"मैं बाक़ायदा त्यागपत्र देता," मैंने लिखा था, "पर मुझे विश्वास नहीं कि मैं छुट्टी पा जाता। इस सिलसिले की मेरी पहली दो कोशिशें असफल रही हैं और मैं देवनगर एकदम छोड़ देना चाहता हूँ, क्योंकि शान्ति पाना तो दूर, मुझे इतनी यन्त्रणा अपने इस प्रवास में मिली है कि जीवन भर मेरी याद को घायल रखेगी। इसीलिए मैंने अब की बार ख़तरा मोल नहीं लिया। आप भी मुझे नहीं चाहते, आपके सैनिक भी नहीं चाहते—फिर इस तकल्लुफ़ से आप या मैं क्यों यन्त्रणा सहें ? देवनगर में मेरी उपस्थिति का काँटा आपके ही नहीं, मेरे भी गड़ा है। क्यों न इसे निकालकर चैन पायें। आपके लेख, जिनका अनुवाद हो गया या नहीं हुआ, सब मेज़ पर रखे हैं, जो किताबें आपसे ली थीं, वे भी रखी हैं। मेरे वेतन का प्रश्न है, आपका मन हो तो निरंजनसिंह जी के पते पर भेज दीजिएगा न मन हो तो नोटिस के बदले में काट लीजिएगा।

"अनुचित होगा यदि मैं अपना कुछ 'खोने' की शिकायत करता हुआ, उस 'पाने' का आभार न मानूं, जो 'देववाणी' की फ़ाइलें और आपके लेख पढ़कर मुझे मिला। मेरी सोयी हुई रूह जैसे वर्षों की नींद से जाग गयी है, क्योंकि ज़िन्दा रूह ही घायल भी हो सकती है। मुर्दा रूह को तो कचोके भी नहीं छूते। फिर आपने उस रूह को आँखें दीं, सपने दिये—इस सबके लिए मैं आभारी हूँ।

"कुछ जगहों से मुझे स्नेह भी मिला और उसी ने किसी तरह देवनगर का प्रवास सह्य भी बनाये रखा। अनुचित होगा यदि मैं चलते समय उसे भूल जाऊँ, उस स्नेह की स्मृति इस घायल रूह को सदा मरहम लगाती रहेगी, इसकी मुझे पूरी आशा है......"

स्नेह देनेवालों का उल्लेख करते हुए मन में सबसे पहले आये नन्दलाल और सावित्री, फिर वाणी और ज्ञानी जी।

यह अजीब बात है कि अब, जब मैं देवनगर छोड़ रहा था, मुझे लगा कि ज्ञानी जी के मन में भी मेरे लिए कुछ-न-कुछ स्नेह था। देवनगर के प्रति मेरे सपने एकदम छिन्न-भिन्न न हो गये होते तो मैं उनके इतना जोर देने पर ज़रूर रह जाता। चार घंटे वे बैठे मुझे समझाते रहे। हो सकता है वे ठीक कहते हों। देवा जी सचमुच उदार स्वप्नद्रष्टा हों, लेकिन देवा जी की इच्छा और उदारता के बावजूद देवनगर का कुछ बननेवाला नहीं, इसका मुझे विश्वास हो गया था। देवनगर मुझे उस देश सा लगता, जिसका प्रधानमंत्री उदाराशय, स्वप्नशील और भविष्यद्रष्टा हो, पर जिसके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी हों और जिसके दफ़्तरों में भ्रष्टाचार और स्वजनपालन का दौर-दौरा हो। उस प्रधानमंत्री की अच्छाई, स्वप्नशीलता और भविष्य-दर्शन के बावजूद उस देश का क्या बन सकता है? यदि वह एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सारे नज़ाम को नहीं बदल सकता तो उसे एक के बाद एक समझौता करना पड़ेगा। उसके सपने और आदर्श धरे-के-धरे रह जायेंगे और देश रसातल में चला जायगा।......इसीलिए उस सारे स्नेह के बावजूद ज्ञानी जी मुझे देवनगर में न रख सके थे।

नन्दलाल और सावित्री का घर उस मरु का शाद्वल था, पर शाद्वल का अस्तित्व ही तो आदमी को मरु से बाँधे नहीं रख सकता।

रही वाणी—तो शायद देवनगर में उसकी उपस्थिति मेरे अनजाने भी मुझे वहाँ रहने के लिए विवश किये हुए थी। उन आँखों और

उनमें तैरते स्नेह की याद देवनगर की मधुरतम स्मृतियों में से है और उस स्नेह को उस नन्हीं सी बाला के हृदय में बनाये रखने की भावना ही से मैं यों अचानक वहाँ से भाग उठा था। यदि उसे पता चलता कि मैंने देवनगर में बने रहने की खातिर नबी को जवाब देना स्वीकार कर लिया है तो वह मेरे बारे में क्या सोचती? 'इस तरह भागने के लिए मुझे माफ़ कर दो, वाणी।' मैंने मन-ही-मन कहा, 'तुम नहीं जानतीं तुम्हें खो देने का खयाल कितना तकलीफ़-देह है, कितना दम घोटनेवाला है। लेकिन तुमने जो आँखें मुझे बख्शी हैं, दूसरे के दुख-दर्द को महसूस करने की जो शक्ति प्रदान की है, यह उसी का तगादा था कि मैं यों भाग आऊँ। लेकिन मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, तुम्हारी उन बड़ी-बड़ी आँखों की याद, जिन्होंने मेरी आत्मा को आँखें दी हैं, 'देव-वाणी' के आदर्श पर चलने की प्रेरणा दी है, जीवन भर मेरा पथ उजेला रखेंगी।

"अरे वे संगीत जी आ रहे हैं।"

अचानक मैं चौंका। इक्का पोगाँवा के पुल पर से गुज़र रहा था। लबालब भरी नहर, खेतियों को जीवनदान देनेवाला जीता जागता लोहू (अजीब बात है कि उनका नाम पानी था) अपने किनारों में लिये चली जा रही थी। किनारे पर कतार बाँधे बच्चे खड़े थे। शायद भट्टे की ओर से मार्च करते हुए मुझसे पहले यहाँ आ पहुँचे थे। तभी निगाहें उस छोटी सी बीमार-बीमार लड़की पर जम गयीं, जिसका मुख एकदम श्वेत था, बड़ी-बड़ी पनियारी आँखें फैल गयी थीं और जिसने मुझे देखते ही दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर रख लिये थे। एक गहरी, लम्बी साँस मेरे हृदय की गहराइयों में से

निकल गयी, लेकिन मेरे अपने दोनों हाथ मस्तक पर चले गये और ताँगा पुल पार कर गया।

सामने पोगाँवा के घरों के पीछे सूरज निकल आया था। किरणों के तीर आकाश के अँधेरे को भेद रहे थे और सुबह का नूर जैसे अँधियारे में चारों ओर अपना प्रकाश भर रहा था।
